सफलता की कुञ्जी

[सन्तवाणी-१]

प्रकाशक—

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा)

सन्तवाणी—भाग-१

सफलता की कुञ्जी

मानव सेवा संघ प्रकाशन

*

प्रकाशक

मानव सेवा संघ,

वृन्दावन—२८११२१

पहली बार–४४००

जनवरी १९७९

*

मुद्रक :

हर्ष गुप्त

राष्ट्रीय प्रेस,

मथुरा—२८१००१

फोन : १३७

प्राक्कथन

जिस मानव-हितकारी विचारधारा को व्यापक बनाकर युगों-युगों तक पथभ्रान्त समाज को मानवता की राह दिखाने के लिए मानव सेवा सङ्घ की स्थापना हुई, उसी विचारधारा को जन-जन तक पहुँचाने के लिए 'जीवन दर्शन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस पत्रिका के प्रकाशन में सङ्घ के प्रणेता ने मानवमात्र को यह विश्वास दिलाना पसन्द किया कि वह अपनी आँखों देख तथा अपने पैरों चलकर सफलता पा सकता है, अर्थात् वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन जीवन में प्रवेश कर सकता है। इसी आधार पर उनका यह मन्तव्य था कि साधक सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित जोवन के सत्य को स्वीकार करें और उस स्वीकृति से उनके जीवन के विकासक्रम में जो अनुभव आयें उन्हें वे लिखें। साधकों के जीवन के अनुभूत सत्य से सम्पुष्ट निबन्धों से ही 'जीवन दर्शन' पत्रिका के कलेवर को समृद्ध किया जाय। उदाहरणस्वरूप श्री महाराज जी ने पत्रिका के लिए साहित्य का सृजन किया, जिसका संकलन प्रस्तुत **'सफलता की कुञ्जी'** पाठकों के सामने है।

मानव-जीवन की सफलता का अर्थ है—सर्व दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति की अभिव्यक्ति, जीवन-मुक्ति एवं भगवत्-भक्ति की प्राप्ति। मनुष्य के वास्तविक जीवन का स्वरूप भी यही है। जीवन की जो वास्तविकता है उसमें दुःख, अशान्ति, पराधीनता और नीरसता नहीं है। दुःख-रहित शान्ति, स्वाधीनता और सरसता ये अविनाशी तत्व हैं, जो बीज रूप से मानव के

अहम् रूपी अणु में विद्यमान ही हैं। अपनी भूल से उत्पन्न हुई विकारयुक्त दशा को आदमी स्वीकार कर लेता है और अनेक प्रकार के दुःख पाता रहता है। उसकी माँग में है—दुःख-रहित शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम; परन्तु दशा में है—अशान्ति, पराधीनता और अभाव। भूल-जनित दशा का अन्त और मौलिक मांग की पूर्ति प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने ही द्वारा अपने वर्तमान में कर सकता है। इस बात का विश्वास दिलाने के लिए प्रस्तुत प्रकाशन के रचयिता आकुल-व्याकुल रहा करते थे। उन्होंने स्वयं ही घोर दुःखमय परिस्थिति से अपने को निकाल-कर अत्यन्त आनन्दमय-रसमय अस्तित्व से अभिन्नता प्राप्त कर ली थी। उनका कथन और उनका जीवन एक था। मानव-जीवन का सबसे ऊँचा चित्र उन्होंने बताया है—

(क) शरीर विश्व के काम आ जाय।

(ख) अहम् अभिमान-शून्य हो जाय।

(ग) हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

विकास की इस चरम सीमा तक पहुंच कर, अभिमान-शून्य होकर जनहितकारी वाक्य जो उनके गठित हुए हैं, वे वाक्य दिव्य वाणी हैं। प्रस्तुत संकलन में उन्हें ज्यों-का-त्यों रखा गया है। 'सफलता की कुञ्जी' के निवन्ध मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुये सन्त-हृदय के सर्वहितकारी सद्भाव से पोषित हैं। जो अज्ञात रूप से पाठकों के साधनयुक्त जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं।

साधक साधन के पथ में कहाँ अटक सकता है, कहाँ हार सकता है, कहां निराश हो सकता है, कहाँ संशयी हो सकता है, इनके जितने भी सम्भावित स्तर हो सकते हैं और साधक के जीवन के जितने भी पहलुओं में बाधाएँ उठ सकती हैं, उन सभी स्तरों पर एवं उन सभी पहलुओं में साधक को निःसंशय बनाकर उसकी साधना में नवजीवन का संचार करके उसे सफलता दिलाने का भगीरथ प्रयास प्रस्तुत 'सफलता की कुञ्जी' है। जिस समय यह निबन्ध लिखाये जा रहे थे और अब जब इनके प्रस्तुतीकरण का प्रयास चल रहा है—मैं बार-बार श्री-महाराज जी के मातृवत् वात्सल्य स्नेह से उमड़ते हुए हृदय को याद करती हूं। उसमें कितनी लग्न, कितनी तत्परता थी भव-सागर में डूबते-उतराते को किनारे लगाने की, सोच-सोच कर आज भी हृदय उमड़ता है। किन शब्दों में उन महा-मानव की अभ्यर्थना करूँ! व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए उन्होंने बहुत कुछ कहा और बहुत कुछ लिखाया। उनकी दिव्य-वाणी मानवीय संस्कृति के अनमोल रत्न हैं। पाठक स्वयं ही इन निबन्धों को पढ़कर उनके अर्थ की गहनता को अनुभव करें।

प्रस्तुत संकलन के प्रत्येक निबन्ध में साधक-मात्र के जीवन की असफलता के कारणों एवं सफलता के उपायों पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक निबन्ध ऐसा है जैसे दर्पण में जीवन की विविध गुत्थियों और उनके सुलझाने की युक्तियों को देख लो और पूर्णता तक पहुंच जाओ। किसी भी मत, सम्प्रदाय, वर्ग, रुचि, योग्यता एवं स्तर का साधक क्यों न हो, उसके व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं आस्तिक पहलूओं की कोई मौलिक समस्या ऐसी नहीं हो सकती कि जिसके

समाघान का उपाय इन निबन्धों में न मिले। मानव का वास्त-विक जीवन है—चिरविश्राम, पूर्ण स्वाधीनता एवं परम प्रेम अर्थात् अगाध अनन्त सरसता। इसी जीवन की माँग मानव की मौलिक माँग है, और इसी माँग की पूर्ति उसके जीवन की सफलता, अर्थात् पूर्णता है। साधक से क्या-क्या भूलें होती हैं जिनके कारण वह विश्राम, स्वाधीनता एवं परम-प्रेम से वंचित रह जाता है, साधन में क्या-क्या असावधानी आ जाती है जिससे कि साधन-तत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती और साध्य से अभिन्नता नहीं होती—इन तथ्यों का ऐसा सजीव चित्रण किया गया है कि प्रत्येक साधक को स्वयं की दशा में ही वे सब बातें प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। इन्हीं तथ्यों के साथ जीवन के सत्य पर आधारित प्रत्येक समस्या का ऐसा सर्व-मान्य समाधान सुझाया गया है कि जिसका अनुसरण करने में साधक-मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है।

पाठकों के लिए निबन्ध का पाठ सहज बनाने की दृष्टि से प्रत्येक निबन्ध में निहित समस्या एवं उसके समाधान के उपायों का सारांश उसके प्रारम्भ में देने की चेष्टा की गयी है। ऐसा करते समय यह अनुभव हुआ कि मानव-जीवन के गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को ऐसे लघु-सूत्रों में प्रकट किया गया है कि मूल विषय-वस्तु ही साधक-मात्र के सम्पूर्ण जीवन का निचोड़ है। प्रस्तुती-करण का लाघव बेजोड़ है। दृश्यमान जगत की स्थूलता की जानकारी से लेकर अव्यक्त, अनन्त, चिन्मय रसरूप जीवन तक की अलौकिक अनुभूतियों तक का ऐसा श्रंखलाबद्ध, युक्तियुक्त,

सहज एवं सत्य प्रगटीकरण इतने अल्प शब्दों एवं वाक्यों में जो किया गया है, वह तो श्री महाराज जी की ऋतम्भरा प्रज्ञा की ही देन है। उसे पढ़कर मैं स्वयं मंत्रमुग्ध हो जाती हूँ। मस्तिष्क की उपज तो हो ही नहीं सकती। मेरी समझ स्तम्भित रह जाती है। उसका सारांश कैसे निकले ? उसको समझने-समझाने में उसका वृहदाकार विस्तार ही हो सकता है, संक्षिप्ती-करण असम्भव है।

फिर भी कम समय एवं अल्प सामर्थ्य से साधक-समाज की सहूलियत के लिए जो कुछ बन पड़ा है, सो करने का लघु प्रयास है। वह आपकी सेवा में प्रस्तुत है। सहृदय साधकवृन्द मेरी त्रुटियों के लिये मुझे क्षमा करते हुए प्रस्तुत ज्ञान-गंगा में अवगाहन करें। मेरा विश्वास है कि ज्यों-ज्यों वे गहरे पैठेंगे, रसास्वादन को प्रकट करने में अपनी वाणी को मेरी ही तरह पंगु पायेंगे। यही इस प्रकार की रचना की सफलता भी है। वह ज्ञान ही क्या जो ज्ञानी की संज्ञा शेष रहने दे और वह रस ही क्या जो रसिक को मूक न कर दे।

विनीता

देवकी

दिनांक : १-११-१९७८

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतित पावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख–दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृत-कृत्य हो जांय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

१

साधक के लिए यह समस्या बन जाती है कि प्रवृत्ति में प्रवृत्त हुए बिना उससे रहा नहीं जाता और प्रवृत्ति पराश्रय के बिना सम्भव नहीं है। इस कठिनाई को दूर करने का एक बहुत ही व्यावहारिक तथा जीवन के सत्य पर आधारित उपाय यह सुझाया गया है कि यदि साधक सुखभोग की दृष्टि को छोड़कर पर-पीड़ा से पीड़ित हृदय से दुःखी का दुःख बांटने के लिए प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है और पराश्रय स्वीकार करता है तो उसमें स्वाश्रित अथवा हरि-आश्रित होने की सामर्थ्य आ जाती है। स्पष्ट कहा गया है कि सामग्री से जीवन नहीं मिलता; सामग्री के सदुपयोग से जीवन मिलता है। दृश्य-मात्र 'पर' है। पराश्रय से पराधीनता नहीं मिटती, परन्तु पर-सेवा से स्वाधीन होने की सामर्थ्य आती है। प्राप्त बल, योग्यता, सामर्थ्य आदि 'स्व' नहीं है 'पर' है। इनका सदुपयोग पर-सेवा के लिये है। अपने लिये जो है वह अपने में ही मौजूद

है। उसकी अभिव्यक्ति विश्राम में होती है। अतः विश्राम के सम्पादन के लिए कर्त्तापन के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित बल का सदुपयोग करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग न करना ही सफलता की कुञ्जी है।

●

मानव मात्र का यह अपना सत्य है कि जिसे वह शरीरादि उपकरणों के द्वारा विषय कर रहा है, उस पर उसका स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, केवल प्रवृत्ति मात्र का ही भास हो रहा है। प्रत्येक प्रवृत्ति के परिणाम में अपने को कुछ मिला नहीं, अपितु प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का व्यय ही हुआ। क्या कोई भी प्रवृत्ति पराश्रय के बिना सम्भव है ? कदापि नहीं। हाँ, पराश्रय को लेकर पर-पीड़ा में हाथ वटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्तियों का कोई सदुपयोग नहीं है। जब समस्त विश्व मिलकर भी किसी एक व्यक्ति के सर्व दुःखों की निवृत्ति में समर्थ नहीं है, तो फिर क्या व्यक्ति परिवार, समाज, देश तथा संसार के प्राणियों के दुःखों की निवृत्ति कर सकता है ? यदि नहीं कर सकता है, तो पर-पीड़ा में हाथ बटाने का अर्थ क्या होगा ? इस सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सद्व्यय में ही पर-सेवा का महत्व है।

प्राप्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त वस्तुओं के द्वारा अपने को अविनाशी, स्वाधीन तथा चिन्मय जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस तथ्य को स्वीकार करने पर अपने लिए समस्त विश्व में कुछ नहीं रह जाता। इस वास्तविकता में आस्था हो जाने पर मानव समस्त दृश्य से विमुख होकर अपने में सन्तुष्ट होने के लिए विवश होता है। अपने में

अपने परम प्रेमास्पद मौजूद हैं, इस रहस्य को कोई विरले ही जान पाते हैं। दृश्य का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को स्वीकार करना अपने ही द्वारा अपने को अनेक प्रकार की पराधीनताओं में बाँध लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'पर' से एकता होती नहीं, पर की दासता ही पीड़ित करती रहती है। उसे सहन करते रहना और अपने को पराश्रय में सन्तुष्ट करने का प्रयास करना क्या अपना ही उत्पन्न किया हुआ प्रमाद नहीं है? अपना प्रमाद मिटाने का दायित्व अपने ही पर है। यद्यपि अनंत के मंगलमय विधान से प्रमाद मिटाने की सामर्थ्य मानव-मात्र में विद्यमान है, परन्तु विद्यमान सामर्थ्य का उपयोग न करने के कारण मानव प्रमाद से उत्पन्न हुई पराधीनताओं को मिटाने के लिए 'पर' के चिन्तन में आबद्ध होता है। भला कहीं 'पर' से पराधीनता मिट सकती है? कदापि नहीं।

'पर' अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसके उपयोग-मात्र में स्वाधीनता है। उसका उपयोग किसी के विनाश में करना क्या युक्ति-युक्त है? बल का सदुपयोग निर्बलों के विकास में ही करना अनिवार्य है। बल के द्वारा किसी को क्षति पहुँचाना अपने को अनेक प्रकार की निर्बलताओं में आबद्ध करना है और कुछ नहीं। यह जानते हुए भी कि निर्बलता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, बल का दुरुपयोग कर अपने को निर्बल बनाना क्या अपने ही द्वारा अपना अहित करना नहीं है? यदि अपना हित अभीष्ट है, तो बल का उपयोग निर्बलों की सेवा में ही हो सकता है; जिसके होने से परिवार, समाज, देश और विश्व में अशांति का अन्त और शान्ति की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था हो जाने पर मानव में उदारता आती

है और फिर उसकी मांग समस्त विश्व को रहती है। उदारता-रहित जीवन जगत् के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है, उसमें ही जगत् की दासता उत्पन्न होती है; जिसके होने से मानव अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। यदि सब प्रकार के अभावों का अभाव करना है, तो उदारता को अपनाना अनिवार्य है। उदारता की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग न करे। जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह किसी परम उदार की ही देन है। तो क्या मिले हुए के दुरुपयोग न करने का दायित्व मानव पर नहीं है ? अवश्य है। बल का दुरुपयोग न करने पर ही बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। बल का सदुपयोग करने पर विश्व-शान्ति अर्थात् सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव विश्व-शान्ति के यज्ञ में सहयोगी होकर स्वाधीन हो सकता है।

स्वाधीनता में अविनाशी जीवन निहित है। इस कारण मानव-मात्र का स्वाधीन होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वाधीन होने में मानव पराधीन नहीं है। स्वाधीनता का अधिकारी अपने ही प्रमाद से पराधीन होता है। इस कारण प्रमाद का अन्त करना अनिवार्य है।

पराधीनता का अन्त करने के लिए मानव को प्राप्त बल के अभिमान से रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। बल अर्थात् कर्म-सामग्री जिसकी देन है, वह अद्वितीय है, एक ही है और वही सभी का अपना है। मिले हुए बल को अपना मानना और दाता को अपना न मानना, इसी भूल से बल के अभिमान का

जन्म होता है। बल का अभिमानी बल का दुरुपयोग कर बैठता है। बल के दुरुपयोग से सबल निर्बल हो जाता है। निर्बल हो जाने पर ही अप्राप्त बल का चिन्तन होता है, यद्यपि निर्बलता का अन्त बल के दुरुपयोग न करने से अपने-आप हो जाता है। निर्बलता बल का अभाव नहीं है,अपितु बल की न्यूनता है। अल्प से अल्प बल का भी सदुपयोग करना अनिवार्य है। बल के सदुपयोग से बल की वृद्धि होती है, इस वैधानिक तथ्य में आस्था करने से ही निर्बलताओं का अन्त हो सकता है। इस दृष्टि से निर्बलताओं का अन्त करने की स्वाधीनता मानव-मात्र में मौजूद है। समस्त सामर्थ्य का जो स्रोत है, वह अविनाशी होने से सदैव, सर्वत्र तथा सभी में है। उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास करना निर्बलताओं से पीड़ित मानव के लिए कल्पतरु के समान है। जो बल निर्बलों की सेवा के लिए मिला है, उस बल को अपने लिए मानना अपने को निर्बल बनाना है। बल अपने लिए नहीं है, इस वास्तविकता को स्वीकार करना बल के सदुपयोग में हेतु है। अपने लिए जो है, वह अपने ही में मौजूद है। जो अपने में मौजूद है, उसकी उपलब्धि के लिए एकमात्र चिर-विश्राम ही वास्तविक अचूक उपाय है। विश्राम के सम्पादन के लिए निरभिमानता तथा फलासक्ति-रहित बल का सदुपयोग करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग न करना ही सफलता की कुञ्जी है।

२

(अ) प्राकृतिक विधान के अनुसार जिस किसी को जो बल, योग्यता, परिस्थिति मिली है वह अपनी नहीं है, अपने लिये नहीं है। वह साधन-सामग्री है एवं पर-सेवा के लिये मिली है। इस वास्तविकता की विस्मृति असफलता का कारण है। जिस किसी को जो कुछ मिला है वह सफलता के लिये पर्याप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्राप्त परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसका आदर न करना प्राकृतिक न्याय का अनादर करना है। न्याय को स्वीकार करने में निर्दोषता रहती है। निर्दोषता में विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति, शक्ति का सम्पादन स्वतः होता है। इसलिये प्राकृतिक न्याय का आदर करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है।

(ब) दृश्य का अस्तित्व नहीं है। अतः मानव को उससे असंग रहना है। असंगता 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति में हेतु है। कर्तव्य एवं अप्रयत्न एक ही जीवन के दो पहलू हैं। कर्तव्यपालन से व्यर्थ चिन्तन की निवृत्ति और अप्रयत्न से अखण्ड स्मृति की जाग्रति होती है। मानव बुद्धि-दृष्टि के द्वारा स्थूल दृश्य से असंगताप्राप्त

कर लेता है, किन्तु सूक्ष्म तथा कारण दृश्य से असंगता तभी होती है जब बुद्धि सम हो जाय। विषयों की द्रष्टा इन्द्रियां हैं, इन्द्रियों का द्रष्टा मन है, मन की द्रष्टा बुद्धि है और बुद्धि का द्रष्टा मानव है। परन्तु मानव स्वयं अपने ज्ञाता का दृश्य है, वह ज्ञाता किसी का दृश्य नहीं है। उसी से दृश्य सत्ता पाता है। समस्त दृश्य में उसी को स्थापना कर दी जाय तो साधक बड़ी सुगमतापूर्वक सर्व के ज्ञाता से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जाता है। अतः दृश्य से असंग होना सफलता की कुञ्जी है।

●

प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र को किसी-न-किसी अंश में बल,योग्यता तथा वस्तु प्राप्त है। इन तीनों के संयोग से ही कार्य का सम्पादन होता है। यद्यपि इन तीनों में जातीय एकता है, परन्तु फिर भी इनकी अलग-अलग प्रतीति होती है। कर्म-सामग्री मानव को मिली है, अर्थात् किसी की देन है। जिसकी देन है उसे हम भले ही न मानें तथा न जानें, पर जिस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं होता उसे अपना नहीं कह सकते। इस दृष्टि से जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है, वह किसी का दिया हुआ है। जो अपना नहीं है, वह अपने लिए नहीं है। जो अपने लिए नहीं है उसके द्वारा शरीर, परिवार, समाज एवं संसार की सेवा की जा सकती है। जब मानव इस वास्तविकता को भूल जाता है, तब प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का दुरुपयोग करने लगता है और फिर सफलता से वंचित हो जाता है। असफलता का कारण एकमात्र वास्तविकता की विस्मृति है। अपने लिए किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है। इस तथ्य को अपना लेने पर वस्तु, योग्यता,

सामर्थ्य के दुरुपयोग की मनोवृत्ति का नाश हो जाता है और फिर सदुपयोग करने की अभिरुचि स्वतः जाग्रत होती है। वस्तु आदि का सदुपयोग करने पर साधक वस्तु आदि के तादात्म्य तथा उनकी दासता से मुक्त हो जाता है; जिसके होते ही जो सभी वस्तुओं से अतीत है अथवा जिससे सभी वस्तुएँ सत्ता पाती हैं एवं प्रकाशित होती हैं, उसकी खोज अथवा उसमें आस्था उदित होती है।

जो साधक विचार-पथ का है, वह वस्तुओं से अतीत के जीवन की खोज करता है। वस्तुओं का आश्रय न रहने पर एक बार तो साधक व्याकुल हो जाता है, अधीर होने लगता है। इतना ही नहीं, उसे जीवन में ही मृत्यु का भास होता है। किन्तु किसी की अहैतुकी कृपा से उसी दशा में वास्त-विकता की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः अभिव्यक्त होती है और मानव स्वाधीनतापूर्वक उस जीवन में प्रवेश पा जाता है, जिसमें किसी प्रकार का भय शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से सफलता मानव का जन्मजात् अधिकार है। पर इस वास्तविकता में आस्था कोई सजग साधक ही कर पाता है। माँग की पूर्ति होती है, यह ध्रुव सत्य है। वर्तमान वस्तु-स्थिति का यथेष्ट बोध होने पर माँग की जाग्रति होती है। इस कारण मानव को आगे-पीछे के व्यर्थ चिन्तन का त्यागकर, वर्तमान दशा का पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। जो मानव अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति से अपरिचित रहता है,वही प्राप्त परिस्थिति की दासता तथा अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-सामग्री के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव

को प्राप्त है, किन्तु जब मानव साधन को ही साध्य मान लेता है, तब उसके प्रभाव से प्रभावित होकर दीनता तथा अभिमान में बँध जाता है।

जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह सफलता के लिए पर्याप्त है। अप्राप्त का चिन्तन प्राप्त के सदुपयोग करने पर स्वतः नष्ट हो जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश पा जाता है जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत न करना प्राकृतिक न्याय का अनादर करना है। न्याय का अनादर करने पर मानव अनेक दोषों को उत्पन्न कर लेता है और न्याय को स्वीकार करने से निर्दोषता सुरक्षित होती है। निर्दोषता के सुरक्षित होने पर ही विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति और शक्ति का सम्पादन होता है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय का आदर करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है।

जो हो रहा है वह मानव-कृत नहीं है,अपितु प्राकृतिक है। उससे भयभीत होना, उसका समर्थन अथवा विरोध करना अपने को उसमें आबद्ध करना है। उसमें आबद्ध होने से उसका प्रभाव मानव में अंकित हो जाता है; जिसके होने से जो नित्य प्राप्त है, उसकी विस्मृति होजाती है। जो हो रहा है उसमें निरन्तर परिवर्तन होने से उसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। जिसकी स्थिति नहीं है, उसके अस्तित्व को स्वीकार कर अपने को वास्तविकता से विमुख करना भारी भूल है। अतः जो हो रहा है उसको निज-ज्ञान के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से देखना चाहिये। दृष्टि में

सत्ता प्रकाश की होती है और प्रकाश के आश्रय से ही दृश्य की प्रतीति होती है। अतः दृष्टि और दृश्य की प्रकाश से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस कारण साधक को दृश्य के प्रतीति-काल में ही अपने को दृश्य के प्रभाव से रहित कर लेना है। यह तभी सम्भव होगा जब दृश्य की वास्तविकता का अनुभव कर साधक उससे असंग हो जाय।

असंगता 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति में हेतु है; अर्थात् अविनाशी जीवन से अविनाशी योग असंगता से ही साध्य है। दृश्य स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, उससे विमुख होना अत्यन्त आवश्यक है। जब साधक दृश्य से विमुख हो जाता है, तब अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर अमरत्व तथा अनन्त रस से भरपूर हो जाता है जो मानव-मात्र का चरम लक्ष्य है।

दृश्य से असंग होने के लिए किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है।

विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के द्वारा निःसंकल्पता स्वतः आती है। यही कर्तव्य-विज्ञान का मूल-मंत्र है। कर्तव्य-विज्ञान अप्रयत्न को पोषित करता है और अप्रयत्न से कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है। कर्तव्यपरायणता से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। किन्तु अपनी माँग की पूर्ति तो एकमात्र दृश्य से असंग होने से ही होती है। इस कारण कर्तव्य और अप्रयत्न एक ही जीवन के दो पहलू हैं। कर्तव्य-पालन से व्यर्थ-चिन्तन की निवृत्ति और अप्रयत्न से अखण्ड-स्मृति की जाग्रति होती है। चिन्तन और स्मृति में एक बड़ा भेद यह है कि चिन्तन साधक

का दृश्य है, किन्तु स्मृति साधक का जीवन है। चिन्तन का प्रतीति होती है और स्मृति अपने में ही होती है। जो अपने में है, वह अपने से भिन्न नहीं है, अर्थात् साधक स्मृति से ही अपने प्रेमास्पद को पा जाता है। इस दृष्टि से स्मृति की जागृति अनिवार्य है जो एकमात्र अप्रयत्न से ही साध्य है। अप्रयत्न असंगता से और असंगता दृश्य के वास्तविक ज्ञान से ही सिद्ध होती है। दृश्य का वास्तविक ज्ञान निज-ज्ञान के प्रभाव से ही होता है। निज-ज्ञान अनुत्पन्न हुआ अविनाशी तत्व है। जो जानने में आता है वह ज्ञान नहीं है, जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है। ज्ञान मानव को नित्य प्राप्त है। इन्द्रिय दृष्टि के प्रभाव को स्वीकार करने से मानव निज-ज्ञान का अनादर कर बैठता है और फिर दृश्य की दासता में आवद्ध होकर पराधीनता, जड़ता एवं अभाव से पीड़ित होने लगता है। इस कारण साधक को बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव द्वारा अपने को इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से मुक्त करना है। दृष्टि के रहते हुए ही जब दृष्टि का प्रभाव नहीं रहता, तब साधक को जाग्रत-सुषुप्ति प्राप्त होती है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही बुद्धि-दृष्टि सम हो जाती है; जिसके होते ही कर्तव्य-पालन के लिये सामर्थ्य और जिज्ञासा-पूर्ति के लिये विचार का उदय एवं अनन्त-रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम का प्रादुर्भाव मंगलमय विधान से अपने-आप होता है।

स्थूल दृश्य से असंगता मानव बुद्धि-दृष्टि से भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु सूक्ष्म तथा कारण दृश्य से असंगता तभी होती है जब बुद्धि-दृष्टि सम हो जाय और निर्विकल्प स्थिति में रमण न हो। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव अपना लेने पर इन्द्रिय-दृष्टि के रहते हुए भी मानव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित हो जाता

है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही बुद्धि-दृष्टि अपने कारण में विलीन हो जाती है जिसके होते ही मन में निर्विकल्पता, इन्द्रियों में विषय-विमुखता और बुद्धि में समता आ जाती है,जो विकास का मूल है। विषय-विमुख होते ही इन्द्रियां मन में तथा मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि दृश्य द्रष्टा में ही विलीन हो जाता है और द्रष्टा परम-द्रष्टा से अभिन्न हो जाता है। यह सभी को विदित है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय की द्रष्टा है और सभी इन्द्रियों का द्रष्टा मन है और मन की द्रष्टा बुद्धि है। बुद्धि का द्रष्टा मानव स्वयं है। और मानव स्वयं अपने ज्ञाता का दृश्य है। सर्व का ज्ञाता किसी का दृश्य नहीं है। जो किसी का दृश्य नहीं है उसी से दृश्य सत्ता पाता है। यदि समस्त दृश्य में उसी की स्थापना कर दी जाय तो साधक बड़ी सुगमतापूर्वक सर्व के ज्ञाता से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जाता है अथवा यों कहो कि सर्व के ज्ञाता से दूरी, भेद और भिन्नता मिट जाती है। इस दृष्टि से साधक योग, बोध तथा प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अहम् को मानव मानना युक्तियुक्त है, कारण कि जिसमें कोई मांग है और जिस पर कोई दायित्व है वही मानव है। मानव को अविनाशी, स्वाधीन, रस-रूप तथा चिन्मय जीवन चाहिये, जिसकी प्राप्ति के लिए उसे दृश्य से असंग होना है। इस कारण दृश्य से असंग होना सफलता की कुञ्जी है।

३

अहं अविनाशी से मिलकर अविनाशी तो हो जाता है किन्तु विनाशी से सम्बन्ध रखने पर भी विनाशी नहीं होता। इस दृष्टि से निष्काम होकर विनाशी से सदा के लिये सम्बन्ध तोड़ देना सफलता की कुञ्जी है।

●

जब अपने में ममता नहीं रहती, तब निष्कामता अपने-आप आ जाती है, जिसके आते ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। शान्ति सामर्थ्य की जननी है, अर्थात् शान्ति का सम्पादन होने पर विचार का उदय होता है। विचार का उदय और अविचार की निवृत्ति युगपत् है। अविचार की निवृत्ति होते ही साधक को तत्व-साक्षात्कार होता है, अर्थात् अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। अभाव का अभाव होने पर उदारता, समता एवं प्रियता का प्रादुर्भाव होता है। उदारता के द्वारा जगत् से एकता, समता से निज-स्वरूप का बोध एवं प्रियता से अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव-मात्र को अभीष्ट है। अभिन्नता में जीवन है, इस कारण भिन्नता का अन्त अनिवार्य है। भिन्नता

भूल से उत्पन्न होती है। भूल का नाश भूल के ज्ञान से ही होता है। भूल का अनुभव मानव को निज-ज्ञान से ही सम्भव है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। ज्ञान सर्व का प्रकाशक है। उसका प्रभाव भिन्नता का नाशक है। ज्ञान के प्रभाव को स्वीकार करना सत्संग है। सत्संग से ही मानव का सर्वतोमुखी विकास होता है। सत्संग स्वधर्म होने से मानव-मात्र को सर्वदा सुलभ है। सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। सत्संग के बिना मानव मानवता से रहित हो जाता है। मानवता-शून्य जीवन सभी के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है।

अनुपयोगी जीवन की मांग किसी को नहीं होती। सभी को उपयोगी जीवन चाहिए, जो एकमात्र निज-ज्ञान के प्रकाश में अपनी वस्तु-स्थिति का यथेष्ट परिचय, वास्तविक आवश्य-कता की जाग्रति एवं अपने दायित्व के ज्ञान होने पर ही उपयोगी होता है। यह सभी को मान्य है कि कामना-पूर्ति-अपूर्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में मानव सुख की दासता तथा दुःख के भय में आवद्ध होता है। दासता तथा भय मानव की वास्तविक मांग नहीं है। उसे तो स्वाधीनता तथा निर्भयता अभीष्ट हैं। इस कारण द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त करना अनिवार्य है। यद्यपि कामना-पूर्ति-अपूर्ति दोनों ही अवस्थाओं में मानव परा-धीनता अनुभव करता है, परन्तु कामना-पूर्ति की पराधीनता उसे भाती है और कामना-अपूर्ति की पराधीनता अरुचिकर लगती है, किन्तु स्वाधीनता का पुजारी तो किसी प्रकार की पराधीनता सहन नहीं कर सकता। जव पराधीनता असह्य हो जाती है, तब अपने-आप कामना-पूर्ति की सुखरूपता कामना-अपूर्ति के दुःख के समान ही प्रतीत होती है, अर्थात साधक को

सुख में भी पराधीनता-जनित दुःख का ही दर्शन होता है। सुख में दुःख का दर्शन होने पर सुख-दुख से अतीत परमानन्द की माँग जाग्रत होती है। मांग की जाग्रति होने पर काम की निवृत्ति अपने-आप हो जाती है, अर्थात समस्त कामनाओं को खा-कर ही मांग सजीव तथा सबल होती है। इतना ही नहीं, जिसमें मांग की जाग्रति होती है वह अपने को मांग से भिन्न नहीं पाता, अर्थात मानव का अस्तित्व मांग से भिन्न नहीं रहता। बस, उसी काल में मांग स्वतः पूरी हो जाती है। मांग की पूर्ति होने पर केवल अविनाशी, चिन्मय, नित्य जीवन से भिन्न कुछ नहीं रहता। जिस-का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। उसी की मांग होती है जिसकी माँग होती है वह सर्वदा है, अर्थात् मांग उसकी नहीं होती जो सदैव तथा सर्वत्र नहीं है। जो सदैव नहीं है वह वास्तव में नहीं है। 'नहीं की कामना होती है और 'है' की मांग होती है। जब मानव 'है' की आवश्यकता का अनुभव करता है, तब 'नहीं' की कामना अपने-आप मिट जाती है; जिसके मिटते ही अपने-आप मांग की पूर्ति हो जाती है। मांग की पूर्ति में मानव पराधीन तथा असमर्थ नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है। जिसकी उपलब्धि में स्वाधीनता है, उससे निराश होना भारी भूल है, अर्थात् असत् का संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से वर्तमान में ही सत्संग करना है। अविनाशी जीवन को स्वीकार करना और सतत् परिवर्तनशील से विमुख होना वर्तमान का प्रश्न है। इसे भविष्य पर छोड़ना अपने ही द्वारा अपना अहित करना है। परिवर्तनशील परिस्थितियों की कामना अविनाशी जीवन को स्वीकार न करने से ही पोषित होती है। अविनाशी जीवन को स्वीकार करते ही साधक में निष्काम होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। निष्कामता

आते ही परिस्थितियों का सदुपयोग सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है और फिर साधक का सम्बन्ध एकमात्र अविनाशी जीवन से ही रह जाता है। अविनाशी जीवन से सम्बन्ध होते ही साधक को अविनाशी योग प्राप्त हो जाता है। अहम् अविनाशी से मिलकर अविनाशी तो हो जाता है, किन्तु विनाशी से सम्बन्ध रखने पर विनाशी नहीं होता। इसी कारण उसमें अविनाशी की मांग रहती है। निष्कामता विनाशी से सम्बन्ध तोड़ देती है और फिर स्वतः अविनाशी जीवन की मांग पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से निष्काम होकर विनाशी से सर्वांश में सदा के लिए सम्बन्ध तोड़ना ही सफलता की कुञ्जी है।

४

श्रम-साध्य उपाय से व्यर्थ चिन्तन का नाश नहीं होता। चिन्तन और उसका आश्रय (मन) अपने से भिन्न प्रतीत होते हैं। परन्तु व्यर्थ चिन्तन का कारण अपने में है। यदि ऐसा न होता तो उसका प्रभाव अपने पर कुछ न होता और न उसको मिटाने का ही प्रश्न उत्पन्न होता। व्यर्थ चिन्तन का नाश करने के लिये साधक को करने तथा भोगने की रुचि से रहित होकर अपनी वास्तविक मांग की जाग्रति अनिवार्य है। यदि साधक होने वाले चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करे तो उसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है। अतः होने वाले चिन्तन से भय-भीत न होकर उसका सदुपयोग करना सफलता की कुञ्जी है।

●

यह मानव-मात्र का अनुभव है कि जब तक मानव किसी कार्य में व्यस्त रहता है, तब तक आगे-पीछे का चिन्तन नहीं होता ; किन्तु कार्य से अवकाश पाते ही प्राकृतिक विधान से न चाहते हुए भी चिन्तन होने लगता है, जिसे सर्व-साधारण मन की चंचलता मानते हैं और उसके दमन के लिए बलपूर्वक किसी-न-किसी प्रकार का अभीष्ट चिंतन करने लगते हैं; किन्तु

कुछ भी किया जाय उसका अन्त होता ही है। अतः करने वाले चिन्तन का अन्त होते ही पूर्ववत् व्यर्थ चिन्तन होने लगता है। इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि श्रम-साध्य उपाय से व्यर्थ चिन्तन का नाश नहीं होता और न मन की निन्दा करने से ही यह समस्या हल होती है। अव विचार यह करना है कि जो चिन्तन बिना किये होता है, उसका सदुपयोग क्या हो सकता है। उसके सदुपयोग के लिए हमें यह देखना है कि चिन्तन-रूपी दृश्य का जो ज्ञाता है, उसकी वास्तविक माँग क्या है, अपने-आप होने वाले चिन्तन से वह भयभीत क्यों होता है, अथवा उसका समर्थन क्यों करता है, उसका अस्तित्व क्यों स्वीकार करता है, तथा जिसका चिन्तन हो रहा है, क्या वह वर्तमान में उपस्थित है? विचार करने से यह विदित होता है कि मौजूद का चिन्तन नहीं होता, उसका सदुपयोग होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि व्यर्थ चिन्तन उसका होता है जो नहीं है। 'नहीं' से भयभीत हो जाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

चिन्तन जिसमें दिखाई देता है, यदि उससे साधक का सम्बन्ध न होता, तो चिन्तन का प्रभाव उसपर न होता। जिसका प्रभाव नहीं होता, उससे सम्बन्ध नहीं रहता। बिना सम्बन्ध के तादात्म्य नहीं होता और तादात्म्य के बिना उसके मिटाने तथा बनाये रखने की वात ही उत्पन्न नहीं होती। अतः होने वाले चिन्तन का अपने पर जो प्रभाव हो रहा है, उससे यह स्पष्ट है कि उसका कारण अपने में है। यद्यपि चिन्तन और उसका आश्रय अपने-से भिन्न प्रतीत होता है, तथापि उसके होने से साधक अपनी क्षति अनुभव करता है। तभी उस चिन्तन

को मिटाना चाहता है। चिन्तन और उसका आश्रय अपने से भिन्न प्रतीत होता है, पर उसका कारण अपने में है। यदि ऐसा न होता, तो उसका प्रभाव अपने पर कुछ न होता और न उसके मिटाने का ही प्रश्न उत्पन्न होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि होने वाले चिन्तन का कारण उसमें ही मौजूद है, जो उसे मिटाना चाहता है।

अब विचार यह करना है कि जिन विषयों का चिन्तन हो रहा है, क्या उन विषयों के हम कभी भोक्ता तथा कर्ता नहीं थे ? प्राकृतिक नियम के अनुसार जो जिस विषय का कर्ता तथा भोक्ता नहीं होता, उसका चिन्तन उसे प्रतीत नहीं होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि होने वाले चिन्तन का मानव कर्ता तथा भोक्ता रहा है। अब यदि व्यर्थ चिन्तन का अन्त करना अभीष्ट है, तो साधक को करने तथा भोगने की रुचि से अपने को रहित करना होगा। उसके लिए अपनी वास्तविक माँग की जाग्रति अनिवार्य है।

होने वाले चिन्तन से साधक को यह मान लेना चाहिए कि जो वह कर चुका है, उसी का चिन्तन है। चिन्तन स्वयं कर्म नहीं है, अपितु भूतकाल में जो वह कर चुका है तथा भविष्य में जो करने की सोच रहा है, वही चिन्तन के रूप में प्रतीत हो रहा है। यदि उस चिन्तन का समर्थन तथा उसका विरोध न किया जाय तो साधक अपने-आप उस चिन्तन के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। व्यर्थ चिन्तन के प्रभाव से मुक्त होते ही साधक में स्वतः वास्तविक आवश्यकता की जाग्रति होती है, जिसके होने पर चिन्तन-रूप दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता अथवा यों कहो कि व्यर्थ चिन्तन का नाश हो जाता है

और साधक में अपने साध्य की अखण्ड-स्मृति उदित होती है। स्मृति जिसमें जाग्रत होती है, उसको अपने-से अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है, उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती। इस दृष्टि से स्मृति से ही साधक को अपने साध्य की उपलब्धि होती है।

स्मृति और चिन्तन में एक बड़ा भद यह है कि व्यर्थ चिन्तन उसका होता है, जो वर्तमान में नहीं है और स्मृति उसकी होती है जो मौजूद है। अव यदि कोई यह कहे कि जो मौजूद है, उसकी स्मृति क्यों होगी, स्मृति तो उसकी अनुपस्थिति सिद्ध करती है। इस सम्वन्ध में विचार करने से यह ज्ञात होता है कि साधक का साध्य उपस्थित है, पर पराश्रय के कारण दूरी, भेद तथा भिन्नता प्रतीत होती है। जब स्मृति पराश्रय का अन्त कर देती है, तव जो उपस्थित है उससे योग, उसका वोध, उसमें प्रेम स्वतः हो जाता है; अर्थात् स्मृति योग-वोध-प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है। अभिव्यक्ति सदैव अविनाशी की होती है और आसक्ति विनाशी का होती है। आसक्ति से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता है। व्यर्थ चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करने पर व्यर्थ चिन्तन निर्जीव हो जाता है और स्मृति जाग्रत हो जाती है। स्मृति जाग्रत होते ही वह समूल नष्ट हो जाता है। व्यर्थ चिन्तन से भयभीत हो जाना, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल है। होने वाले चिन्तन को निज-ज्ञान के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से देखना है। उससे भयभीत नहीं होना है और न उसका समर्थन ही करना है। व्यर्थ चिन्तन से भयभीत होने पर उसका अस्तित्व प्रतीत होने लगता है और समर्थन करने से व्यर्थ चिन्तन कर्म का रूप धारण

कर लेता है। चिन्तन-मात्र कर्म नहीं है। उसके समर्थन से मानव कर्म में प्रवृत्त होता है और उसका परिणाम भोगता है। अतः व्यर्थ चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करना उसके मिटाने का अचूक उपाय है।

अपने-आप होने वाली क्रियाओं को वर्तमान कर्म मान लेना भारी भूल है। जो अपने-आप होता है, यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो उससे मानव का विकास होता है। इस दृष्टि से अपने-आप होने वाले चिन्तन का उपयोग करना है। यदि चिन्तन न होता, तो मानव न तो अपनी वस्तु-स्थिति को जान पाता और न यह जान पाता कि भूतकाल में वह क्या कर चुका है और भविष्य में क्या करना चाहता है। इसके बिना जाने वास्तविक आवश्यकता एवं वर्तमान कर्तव्य का बोध ही नहीं होता; जिसके विना मानव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से तो होने वाला चिन्तन भी उपयोगी है। परन्तु भारी भूल यह होती है कि होने वाले चिन्तन-मात्र को ही मानव कर्म मान लेता है तथा उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। उससे यह प्रेरणा नहीं लेता कि मेरा लक्ष्य क्या है और उसकी उपलब्धि के लिए दायित्व क्या है। अतः होने वाले चिन्तन से भयभीत न होकर उसका सदुपयोग करना सफलता की कुञ्जी है।

५

व्यर्थ चिन्तन का साधक के जीवन में क्या उपयोग हो सकता है, यह विचारणीय विषय है। वस्तु आदि के अभाव में उनका चिन्तन होता है। अभाव को सहन करना मानव-जीवन का अनादर है। अभाव की अनुभूति-काल में ही पूर्ण जीवन की माँग जाग्रत होती है। वास्तविक मांग की जाग्रति होने पर चिन्तन स्वतः मांग में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से अभाव की अनुभूति विकास की भूमि है। होने वाले चिन्तन से भयभीत न होना, उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना, उसके द्वारा की हुई प्रवृत्तियों को न दुहराने का निर्णय लेना अनिवार्य है। इस दृष्टि से चिन्तन विघ्न नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग सफलता की कुंजी है।

•

यह सभी को सर्वदा मान्य है कि जब मानव आवश्यक कार्य से अवकाश पाता है, तब उसके न चाहने पर भी बिना किये अपने आप आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है। इस प्राकृतिक तथ्य का साधक के जीवन में क्या उपयोग हो सकता है, यह प्रस्तुत निबन्ध का विचारणीय विषय है। होने वाले चिन्तन से साधक यह भलीभाँति अनुभव कर सकता है कि जिन विषयों का भोग किया है, उन्हीं का चिन्तन हो रहा है। यह कोई नवीन

कर्म नहीं है। उसके द्वारा साधक भोगे हुए विषयों पर विचार कर सकता है। चिन्तन उन विषयों की स्मृति-मात्र है जिनका उसने उपभोग किया है अथवा जिन वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्वन्ध स्वीकार किया है। वस्तु आदि के अभाव में उनका चिन्तन होता है, अर्थात् जो चिन्तन के रूप में प्रतीत होता है वह अस्तित्वहीन है। अस्तित्वहीन से भयभीत होना अथवा आर्कषित होना भारी भूल है। होने वाले चिन्तन के आधार पर मानव अपनी वर्तमान दशा से भली-भाँति परिचित हो सकता है। उसे चिन्तन के द्वारा यह ज्ञात होता है कि अव तक उसने जो कुछ किया, उसका परिणाम अभाव ही है। अभाव के रहते हुए चैन से रहना जड़ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अभाव के अनुभव से मानव पूर्णता की माँग जाग्रत कर सकता है, जो विकास का मूल है। अभाव को सहन करना मानव-जीवन का अनादर है। अभाव की अनुभूति अभाव से रहित होने के लिये प्रेरणा देती है, पर असावधानी के कारण मानव, अभाव से पीड़ित होकर वास्तविक जीवन से निराश होने लगता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अभाव के अनुभूति-काल में ही पूर्ण जीवन की मांग सबल तथा स्थायी होनी चाहिये। वास्तविक माँग की जाग्रति होने पर चिन्तन स्वतः माँग में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से अभाव की अनुभूति विकास की भूमि है। किन्तु होने वाले चिन्तन का सदुपयोग न करने से चिन्तन का अस्तित्व स्वीकार कर साधक भयभीत होने लगता है अथवा चिन्तन का समर्थन कर उन्हीं प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होने का प्रयास करता है जिन्हें अनेक बार कर चुका है। किसी भी प्रवृत्ति के द्वारा वास्तविक माँग की पूर्ति नहीं होती, अपितु सामर्थ्य का व्यय ही होता है—यह

जानते हुए भी साधक प्रवृत्तियों के द्वारा ही अभाव को मिटाने का प्रयास करता है और परिणाम में असफलता ही पाता है। भूतकाल की प्रवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप जो वर्तमान में अभाव का अनुभव हो रहा है उसकी निवृत्ति प्रवत्तियों के द्वारा सम्भव नहीं है। होने वाले चिन्तन से भूतकाल की जिन प्रवृत्तियों का परिचय मिल रहा है, वे प्रवृत्तियाँ साधक के लिये सर्वथा त्याज्य हैं। ऐसा करने पर ही साधक में वास्तविक माँग का जाग्रति होगी जो चिन्तन के विनाश में सामर्थ है। पर साधक से भारी भूल यह होती है कि वह चिन्तन के आधार पर भावी कार्यक्रम निश्चित कर लेता है; अर्थात् चिन्तन का समर्थन कर उसके अनुसार पुनः प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। चिन्तन हमें यह प्रकाश देता है कि अब चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करके उससे असहयोग ही करना इै। चिन्तन का तादात्म्य भी साधक को चिन्तन से असहयोग नहीं करने देता। अतः होने वाले चिन्तन से तादात्म्य नहीं करना है। यह तभी सम्भव होगा जव साधक चिन्तन को अपने से भिन्न दृश्य-मात्र अनुभव कर सम्बन्ध-विच्छेद करे। चिन्तन से सम्वन्ध-विच्छेद करते ही चिन्तन निर्जीव हो जायगा। फिर साधक में वास्तविक माँग की जाग्रति होगी, जो चिन्तन को खाकर स्वतः अपनी पूर्ति में समर्थ है। माँग साधक के व्यक्तित्व में ही उदित होती है, इस कारण चिन्तन की भाँति दृश्य नहीं होती। माँग की शिथिलता ही चिन्तन को जन्म देती है। इस कारण वास्तविक माँग की जाग्रति अत्यन्त आवश्यक है। चिन्तन का समर्थन न करने पर अपने-आप चिन्तन का नाश हो जाता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है कि जव साधक होने वाले चिन्तन को नवीन कर्म स्वीकार नहीं करता। चिन्तन तो

केवल साधक को सजगता प्रदान करने के लिये दैवी विधान से होता है। दैवी विधान विकास में हेतु है। अतः होने वाले चिन्तन से भयभीत होना और उसे विकार मानना अपने में हीन-भाव को जन्म देना है। चिन्तन को देखना और उससे असहयोग करना चाहिये, वह अपने-आप मिट जायगा तथा वास्तविक माँग की जाग्रति होगी, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ हैं। इस कारण होने वाले चिन्तन से भयभीत न होना, उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना तथा उसके द्वारा की हुई प्रवृत्तियों को न दुहराने का निर्णय करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से चिन्तन विघ्न नहीं है, अपितु उसका सदुपयोग सफलता की कुञ्जी है।

६

अभाव को सहन करने से व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति होती है। सार्थक चिन्तन उसी का होती है जिसकी उपलब्धि पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा नहीं होती। सार्थक चिन्तन साध्य की अखण्ड स्मृति है। व्यर्थ चिन्तन से साधक को अपनी भूल का अनुभव होता है और सार्थक चिन्तन अविनाशी जीवन को प्रकाशित करता है। सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति साधक में होती है। उसकी साधना है—

(क) साध्य में अविचल आस्था,
(ख) उनकी महिमा की स्वीकृति,
(ग) उनकी आवश्यकता अनुभव करने से स्मृति की जाग्रति।

स्मृति की जाग्रति से आत्मीयतापूर्वक साध्य से अभिन्नता होती है। यही जीवन की सफलता है।

●

जब तक मानव अभाव को सहन करता रहता है तब तक व्यर्थ, चिन्तन की उत्पत्ति होती ही रहती है। अभाव असह्य हो जाने पर व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है और सार्थक चिन्तन का उदय होता है। सार्थक चिन्तन उसी का होता है जिसकी उपलब्धि पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा नहीं होती। परिश्रम तथा पराश्रय से रहित होते ही स्वतः सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है। सार्थक चिन्तन साध्य की अखण्ड स्मृति है। स्मृति साध्य से भिन्न की विस्मृति कराने में समर्थ है,

जिसके होते ही स्मृति सजीव हो जाती है और फिर बोध तथा प्रेम में परिणत होकर साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से सार्थक चिन्तन वड़े ही महत्व की वस्तु है। व्यर्थ चिन्तन से साधक को अपनी भूल का अनुभव होता है और सार्थक चिन्तन अविनाशी जीवन को प्रकाशित करता है। व्यर्थ चिन्तन उसका होता है जिसका अस्तित्व नहीं है, केवल प्रतीति-मात्र है। सार्थक चिन्तन साधक को उससे सर्वांश में सदा के लिये असंग कर देता है, जिसका अस्तित्व नहीं है और उससे अभिन्न कर देता है जो सर्वदा-सर्वत्र मौजूद है।

परिवर्तनशील दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार करना ही व्यर्थ चिन्तन को जन्म देना है। यह जानते हुए भी कि परिवर्तन निरन्तर हो रहा है, उसकी स्थिति स्वीकार कर लेना व्यर्थ चिन्तन को पोषित करना है। व्यर्थ-चिन्तन सदैव उसी का होता है जिसकी प्रतीति भले ही कभी हुई हो, पर जो अभी नहीं है तथा जो स्थितिहीन है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहींहै,उसी की प्रतीति होती है और उसी के आकर्षण से प्रवृत्ति होती है। यदि परिवतनशील दृश्य के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय तो व्यर्थ-चिन्तन का स्वतः नाश हो जाता है और जो सदैव-सर्वत्र सभी का अपना है, उसे स्वीकार कर लिया जाय तो अपने आप सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है, जो व्यर्थ-चिन्तन को खाकर उससे अभिन्न कर देती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। वैधानिक प्रवृत्ति प्रवृत्तियों के राग से रहित कर मानव को सहज तथा स्वाभाविक निवृत्ति द्वारा विद्यमान तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति की सार्थकता दूसरों के अधिकारों की रक्षा में एवं सहज निवृत्ति के सम्पादन

में ही है। प्रवृत्तियों के द्वारा साधक को अपने लिये कुछ भी प्राप्य नहीं है। इस वास्तविकता को अपनाकर जब साधक स्वाधीनता तथा विश्राम का सम्पादन कर लेता है तब अपने-आप सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति में हेतु है। सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति साधक में होती है, मन में नहीं। इतना ही नहीं, सार्थक चिन्तन होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी अपने-अपने विषय को त्याग, सार्थक चिन्तन से अभिन्न हो जाते हैं। सार्थक चिन्तन साध्य की अगाध प्रियता को पोषित करता है। यह सभी को मान्य है कि प्रियता जिसके प्रति होती है उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती। सार्थक चिन्तन साध्य की आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता से ही उदित होता है और साधक की अहंता एवं ममता को खाकर साध्य की मधुर स्मृति में परिणत हो जाता है। सार्थक चिन्तन के लिये किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि साध्य की आत्मीयता ही सार्थक चिन्तन का मूल मन्त्र है। आत्मीयता तभी सजीव होती है जब साधक साध्य में अविचल आस्था करता है। साध्य की आस्था अन्य सभी आस्थाओं का नाश करने में समर्थ है, पर आस्था में दृढ़ता तभी होती है जब साधक साध्य की महिमा स्वीकार करे और साध्य की आवश्यकता अनुभव करे। साध्य की आवश्यकता अनुभव करने पर साधक में साध्य की स्मृति सजीव होती है। विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। अतः स्मृति से ही विमुखता का नाश होगा। इस दृष्टि से साध्य में अविचल आस्था रखना, उसकी महिमा स्वीकार करना, उसकी आवश्यकता अनुभव कर स्मृति जगाना एवं आत्मीयतापूर्वक अभिन्नता स्वीकार करना सफलता की कुञ्जी है।

●

७

मानव का समुचित विकास दर्शन, विज्ञान, श्रद्धा, उदारता और सौन्दर्य में है। विज्ञान कामनापूर्ति में सहयोग देता है। दर्शन मानव को निष्काम बनाता है। समर्पण अहं रूपी अणु को गलाने में हेतु है। दर्शन दृश्य की आस्था का नाश करता है। श्रद्धा दृश्य के आधार तथा प्रकाशक से आत्मीयता सजीव करती है। आस्था श्रद्धास्पद में श्रद्धा और संसार के प्रति उदारता प्रदान करती है। दर्शन से निर्विकारता और निर्विकारता से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है।

●

मानव-जीवन का समुचित विकास निहित है दर्शन, विज्ञान, श्रद्धा, उदारता और सौन्दर्य में। पर विज्ञान को दर्शन के अधीन रहना चाहिए, क्योंकि विज्ञान कामना-पूर्ति में सहयोग देता है और दर्शन मानव को निष्काम बनाता है। निष्कामता के बिना कामना-पूर्ति पराधीनता में आबद्ध करती है। पराधीन प्राणी कभी भी अपने लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता। जो अपने लिये अनुपयोगी है, वह जगत के लिये तथा जगत्पति के लिये कभी उपयोगी नहीं हो सकता। दर्शन हमें सर्वप्रथम अपने लिये उपयोगी होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। अपने

लिये उपयोगी होने पर स्वभाव से ही उदारता तथा परम प्रेम कां अभिव्यक्ति होती है। उदारता सामाजिक समस्याओं को हल करने में समर्थ है और प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर जीवन में किसी प्रकार की परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् अनन्त से आत्मीयता एवं एकता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में श्रद्धास्पद के प्रति अविचल श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धा-रहित जीवन भार से दब जाता है और पराश्रय लेता रहता है, जो विनाश का मूल है। पराधीनता से परिच्छिन्नता, भेद तथा भय का जन्म होता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। सभी में निर्भयता, एकता तथा समता की स्वाभाविक मांग है, जिसकी पूर्ति मानव अपने दर्शन से ही कर सकता है। मानव का अपना ज्ञान उसे स्वाधीनता प्रदान करता है। विज्ञान मानव को 'यह' (दृश्य) के सम्बन्ध में सोचने, समझने एवं उसके उपयोग करने में सहयोगी सिद्ध होता है। विज्ञान एक प्रकार का बल है। बल से कार्य, भोग आदि को सिद्धि होती है; किन्तु बल के द्वारा अभाव का अन्त नहीं होता, अपितु मिथ्या अभिमान ही पोषित होता है। अभिमानी कितना ही सबल क्यों न हो, उसे पराधीनता में आबद्ध होना ही पड़ता है। इस दृष्टि से विज्ञान को दर्शन के अधीन रखना चाहिये। विज्ञान से प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग यदि ज्ञानपूर्वक नहीं किया जायगा तो विज्ञान अहितकर सिद्ध होगा, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। श्रद्धा-रहित ज्ञान-विज्ञान मानव को शून्यता तथा विलास में बाँधता है। श्रद्धा ज्ञान में चेतना जीवित रखती है, साधक को शून्य में आबद्ध नहीं होने देती; बल का सदुपयोग कराती है और साधक को कभी विलासी नहीं होने देती। इस दृष्टि से ज्ञान-विज्ञान के साथ श्रद्धा को रखना अनिवार्य है।

श्रद्धा साध्य के प्रति समर्पण-भाव प्रदान करती है। समर्पण अहं-रूपी अणु को गलाने में हेतु है। अहं के गलते ही भेद तथा भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती, अर्थात् एकता, समता और अभिन्नता की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण अहं का गल जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रद्धा का मानव-जीवन में प्रमुख स्थान है। दर्शन दृश्य की आस्था का नाश करता है और श्रद्धा दृश्य के आधार तथा प्रकाशक से आत्मीयता सजीव करती है। इस कारण मानव-जीवन में से दर्शन तथा श्रद्धा को मिटाया नहीं जा सकता। विज्ञान के बिना कार्य करने की सामर्थ्य नहीं आती। अतः दर्शन और श्रद्धा के साथ-साथ विज्ञान जीवन के लिये उपयोगी है। आस्था श्रद्धास्पद में श्रद्धा और संसार के प्रति उदारता प्रदान करती है। उदारता विज्ञान का सदुपयोग कराती है और विश्व के साथ एकता स्थापित करती है। उदारता के विना विश्व-शान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकता।

दर्शन मानव को निर्मम होने की प्रेरणा देता है। निर्ममता के बिना निर्विकारता का सौन्दर्य मानव में अभिव्यक्त नहीं होता। निर्विकारता सभी को आकर्षित करती है। इस दृष्टि से निर्विकारता का सौन्दर्य मानव-मात्र के लिए अत्यंत आवश्यक है। दृश्य का आकर्षण एकमात्र भूल-जनित राग से उत्पन्न होता है और नवीन राग को जन्म देता है। दर्शन मानव को राग-रहित करने में हेतु है। इस कारण दर्शन के प्रकाश में ही सर्वतोन्मुखी विकास होता है। यदि जीवन में से दर्शन को निकाल दिया जाय, तो विकास की तो कौन कहे, विनाश

अवश्य हो जाता है। दर्शन से ही मानव मानव होता है। दर्शन के बिना मानव में मानवता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मानवता-रहित मानव पशुओं से भी अधिक निम्न कोटि में आ जाता है। इस कारण मानव-मात्र के जीवन में दर्शन, श्रद्धा, विज्ञान, उदारता तथा सौन्दर्य की आवश्यकता है।

सर्वांश में सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति जीवन में तभी संभव है जब दबी हुई अशान्ति प्रकट होकर मिट जाय और वास्तविक चिरशान्ति की स्थापना हो जाय। शान्ति का वेष बनाकर बैठ जाना और भीतर विप्लव उठते रहना, उसे प्रकट न करना चित्त को अशुद्ध रखना है।

८

परिवर्तन में स्थायित्व स्वीकार करना प्रमाद है। माँग की पूर्ति सहज निवृत्ति में है। निवृत्ति में जीवन है। निवृत्ति-काल में होने वाला व्यर्थ-चिन्तन अपने किये हुए का परिणाम है। उससे भयभीत नहीं होना है प्रत्युत उसका सदुपयोग करना है। व्यर्थ चिन्तन को देखो, उससे तादात्म्य मत रखो। उससे असहयोग करके शान्त हो जाओ। यही सफलता की कुञ्जी है।

●

विश्राम-काल में अपने-आप होने वाला चिन्तन साधकों को विघ्न प्रतीत होता है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। चिन्तन के रूप में वही आता है जिसका साधक अनेक बार भोग कर चुका है। वर्तमान में उसे यह तथ्य भले ही ज्ञात न हो, किन्तु प्राकृतिक न्याय के अनुसार जिससे मानव किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध तथा जिसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, उसका चिन्तन कभी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से होने वाला चिन्तन भूतकाल की घटनाओं का परिचय-मात्र है। उससे भयभीत होना तथा उसका समर्थन कर, बिना ही उसे प्राप्त किये उसमें सुख-बुद्धि रखना भारी भूल है। प्रत्येक विषय उपलब्धि-काल में उतना सुखद प्रतीत नहीं होता जितना अप्राप्त दशा में उसका चिन्तन सुखद लगता है। यह जानते हुए भी कि पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा जो सुखाभास होता है, वह वास्तविक नहीं है, रुचि की पूर्ति-मात्र से कुछ काल के लिये मानसिक तनाव में ढीलापन

आने से सुखाभास होता है तथा साधक प्रवृत्ति में सुख आरोप कर लेता है। यद्यपि प्रवृत्ति से शक्ति का व्यय होता है, परन्तु साधक इस रहस्य पर विचार नहीं करता और प्रवृत्तियों में सुख का आरोप कर प्रवृत्ति की रुचि को पोषित करता है, जो पराधीनता का मूल है।

वैधानिक दृष्टि से रुचि-पूर्ति-अपूर्ति दोनों ही दशाओं में मानव पराधीन ही रहता है, पर रुचि-अपूर्ति की पराधीनता में दुःख अनुभव करता है और रुचि-पूर्ति में सुख मान लेता है। दुःख-सुख दोनों ही अवस्थाएँ जीवन नहीं हैं; क्योंकि उनमें सतत् परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन में स्थायित्व स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; किन्तु मानव की स्वाभाविक मांग अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय, रसरूप जीवन की है। पराधीनताजनित सुख-भोग की रुचि को स्वीकार करने से स्वाभाविक मांग में शिथिलता आ जाती है और फिर मानव रुचि-पूर्ति-अपूर्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर बैठता है। पर वास्तविक मांग का नाश नहीं होता। जीवन का अध्ययन करने पर ज्यों-ज्यों द्वन्द्वात्मक स्थिति से अरुचि होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाभाविक मांग सबल तथा स्थायी होती जाती है। इतना ही नहीं, मांग की जाग्रति होने पर रुचि का सर्वांश में नाश हो जाता है और फिर वास्तविक मांग अपने-आप पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से होने वाला चिन्तन एकमात्र रुचि का परिचय है, और कुछ नहीं। रुचि की पूर्ति नवीन रुचि को जन्म देती है और रुचि-पूर्ति का प्रलोभन प्रवृत्तियों में प्रवृत्त करता है। प्रवृत्तियों का राग मानव को देहाभिमान में आबद्ध कर उसमें जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि दोषों को उत्पन्न करता है। इस कारण विद्यमान राग की निवृत्ति के लिये मर्यादित

प्रवृत्ति भले ही साधनरूप हो, किन्तु मानव की वास्तविक मांग की पूर्ति तो सहज निवृत्ति से ही होती है। प्रवृत्तियों के आरम्भ से पूर्व और उनके अन्त में अपने-आप स्वतः सिद्ध सहज निवृत्ति में जीवन है, इस वास्तविकता को स्वीकार करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। निवृत्ति में जीवन है, इस वास्तविकता को स्वीकार करने पर परिस्थितियों का कोई महत्व नहीं रह जाता, अपितु सभी परिस्थितियाँ समान रूप से साधन-सामग्री के रूप में ही रह जाती हैं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, साधक को साध्य की प्राप्ति कराने में उपयोगी सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, साधक विषमता में समता और अनेकता में एकता का अनुभव कर निश्चिन्तता एवं निर्भयता प्राप्त करता है। फिर साधक के जीवन में किसी प्रकार की दीनता तथा अभिमान शेष नहीं रहता, अपितु साधक में समता, उदारता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

उदारता से साधक का जीवन जगत के लिये और समता से जीवन अपने लिये एवं प्रियता से साधक का जीवन साध्य के लिए उपयोगी होता है। जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव-जीवन की पूर्णता है। विश्राम-काल में होने वाले चिन्तन से साधक को अपनी रुचि का अनुभव करना चाहिये, किन्तु उसका समर्थन तथा विरोध एवं उससे तादात्म्य रखना भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। जो होता है, वह मानव का व्यक्तिगत कर्म नहीं है। उसका समर्थन कर्म को जन्म देता है और उससे असहयोग करना साधन-रूप सिद्ध होता है। अपने किये हुए का चिन्तन अपने को सजग होने की प्रेरणा देता

है। उससे भयभीत होना अपने ही द्वारा अपने को असमर्थ बनाना है, क्योंकि भयभीत होने से सामर्थ्य का ह्रास होता है और अभय होने से सामर्थ्य की वृद्धि होती है। जो हो रहा है, उसे देखना और उससे विमुख होकर अपने में ही अपने प्रेमास्पद की स्थापना कर उनकी प्रियता को ही अपना सर्वस्व स्वीकार करना चाहिये । प्रियता से दूरी, भेद, भिन्नता का सर्वांश में नाश हो जाता है और फिर साधक बड़ी सुगमतापूर्वक भोग, मोह, आसक्ति को मिटा कर सदा के लिये योग, बोध, प्रेम से अभिन्न हो जाता है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

जो हो रहा है, उसको देखने के लिये साधक को उससे असंग होना होगा। असंगता के लिये अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। अहंकृति के रहते हुए दृश्य से तादात्म्य रहता है। तादात्म्य-रहित हुए बिना जो हो रहा है, साधक उसका साक्षी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से होने वाले चिन्तन का तादात्म्य मिटाना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी संभव होगा जब चिन्तन से साधक भय-भीत न हो और न उसका समर्थन करे, अपितु चिन्तन से असह-योग कर शान्त हो जाय। शान्ति का सम्पादन होने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति मंगलमय विधान से स्वतः होती है, किन्तु उसमें रमण करना विकास में बाधक है। होने वाले चिन्तन के प्रभाव से रहित होकर ही साधक शान्ति को सुरक्षित रख सकता है, जो विकास की जननी है। अतः चिन्तन से तादात्म्य न रखना सफलता की कुञ्जी है।

९

समस्त दृश्य का प्रकाशक तथा आश्रय अविनाशी तथा स्वयं-प्रकाश्य है, जिसकी मांग मानव-मात्र में स्वभाव से विद्यमान है। किन्तु दृश्य से तादात्म्य स्वीकार करने पर मानव में भोग की रुचि उत्पन्न होती है। मांग की जाग्रति से भोग की रुचि का नाश होता है, जिससे साधक को सहज विश्राम मिलता है। कुछ न करने की स्थिति में देह का तादात्म्य टूट जाता है। कुछ न करने में स्वाभाविक गति है, जिससे अविनाशी से अविनाशी योग प्राप्त होता है। योग में बोध और बोध में प्रेम निहित है। दृश्य से विमुख होना ही सफलता की कुञ्जी है।

●

समस्त दृश्य का प्रकाशक तथा आश्रय अविनाशी तथा स्वयं-प्रकाश्य है, जिसकी मांग मानवमात्र में स्वभाव से विद्यमान है। किन्तु दृश्य से तादात्म्य स्वीकार करने पर मानव में भोग की रुचि उत्पन्न होती है। यद्यपि दृश्य से स्वरूप की एकता कभी किसी मानव की नहीं होती, परन्तु तादात्म्य-मात्र से ही दृश्य में अहम् तथा मम-बुद्धि हो जाती है और फिर मानव अपने को भोग की रुचि में आबद्ध कर लेता है। जिसके

होते ही मोह तथा आसक्तियों का जन्म हो जाता है, जो दुःख का मूल है। योग की मांग सबल होने पर भोग की रुचि स्वतः निर्जीव होकर मिट जाती है और फिर दृश्य से असंगता हो जाती है। जिसके होते ही पराधीनता, जड़ता तथा अभाव शेष नहीं रहते। अतः योग की मांग को सबल तथा स्थायी बनाना अनिवार्य है। विद्यमान मांग को सबल बनाने के लिये स्वाधीनता की आवश्यकता अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्त करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है। स्वाधीनता की प्राप्ति में कुछ भी बाधक नहीं है। पराधीनता को सहन करना ही स्वाधीनता से विमुख होना है। अपने लिये दृश्य-मात्र की अपेक्षा नहीं है। इस वास्तविकता का अनुभव करना प्रत्येक मानव के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वास्तविकता उसे नहीं कहते जो अनुभव-सिद्ध न हो। निज-अनुभव का अनादर कर मानव वास्तविकता को भूल जाता है, अर्थात् उसकी विस्मृति हो जाती है। विस्मृति का नाश एकमात्र स्मृति से ही होता है और स्मृति आवश्यकता अनुभव करने से जाग्रत होती है। इस कारण अपनी आवश्यकता को जानना विकास का मूल है।

समस्त दृश्य के आश्रय तथा प्रकाशक से देश-काल आदि की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं होती, उसकी उपलब्धि श्रम-साध्य उपाय से किसी प्रकार नहीं हो सकती। जिसकी उपलब्धि परिश्रम तथा पराश्रय से नहीं होती, उसके लिये श्रम तथा पराश्रय का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विश्राम-काल में पराश्रय का त्याग स्वतः हो जाता है, जिसके होने पर साधक सुगमतापूर्वक पराधीनता का अन्त कर स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से विश्राम बड़े ही महत्व की वस्तु है। अनावश्यक कार्यों का त्याग और आवश्यक कार्यों को पूरा करने

पर विश्राम की उपलब्धि होती है। सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप कार्य को पूरा करना है और सामर्थ्य तथा ज्ञान-विरोधी कार्य का त्याग करना है, तभी विश्राम की उपलब्धि होगी। विश्राम कोई अवस्था विशेष नहीं है, अपितु सभी अवस्थाओं से अतीत है। अवस्थाएँ शरीर के तादात्म्य से उत्पन्न होती हैं और विश्राम देहाभिमान-रहित होने से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से देहाभिमान का अन्त करना अनिवार्य है।

देहाभिमान से रहित होने के लिये किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु इस तथ्य को अपना लेना है कि अपने लिये कुछ नहीं करना है। कुछ न करने की स्थिति से देह का तादात्म्य अपने-आप मिट जाता है। कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु कर्तव्यनिष्ठ होने पर ही करने का राग नाश होता है और फिर अपने-आप प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व तथा कार्य के अन्त में जो वास्तविकता शेष रहती है, वही कुछ न करना है। कुछ न करने में स्वाभाविक प्रगति है, जिससे मानव अविनाशी से अविनाशी योग प्राप्त करता है। जो अविनाशी है, वही सभी का अपना है। इस दृष्टि से न करने की स्थिति में अपने से अपना योग होता है। योग कोई अभ्यास नहीं है। योग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है, जो दृश्य के प्रकाशक से साधक की दूरी नहीं रहने देता। योग की पूर्णता में बोध स्वतः हो जाता है और बोध में अगाध प्रियता निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक श्रम तथा पराश्रय से रहित होकर विश्राम एवं स्वाधीनता का सम्पादन करने में समर्थ होता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो नित्य प्राप्त है, उससे वह दूरी मान लेता है और जिसकी केवल प्रतीति है, उसकी प्राप्ति मान लेता है! प्रतीति से विमुख

होने के लिये प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव अपेक्षित है। प्रतीति की वास्तविकता का बोध प्रतीति से असंग होने से ही सम्भव है और असंगता बिना विश्राम के प्राप्त नहीं होती। विश्राम के लिये यह महामंत्र अपनाना अनिवार्य है कि अपने लिये कभी कुछ नहीं करना है और न आज तक किया हुआ अपने काम आया है। कर्म का परिणाम जो कुछ होता है, उसकी पहुँच शरीर तक ही रहती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपने लिये कुछ नहीं करना है। श्रम-साध्य उपाय से शरीर, परिवार, समाज, संसार के लिये उपयोगी होना है; अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा करनी है, जिससे करने का राग निवृत्त हो जाय और अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य आ जाय, जिससे अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर जीवन सार्थक हो जाय। इस दृष्टि से दृश्य से विमुख होना ही सफलता की कुञ्जी है।

१०

जो मौजूद है, वही सबका अपना है। मिले हुए के सदुपयोग से सुन्दर समाज का निर्माण और अपने में सन्तुष्ट होने से अपना कल्याण होता है। क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिति से असहयोग करने पर साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थिति का आश्रय पराश्रय ही है। इसका भी त्याग अनिवार्य है। अपने में सन्तुष्ट होने से सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने पर अनन्त रस की अभि-व्यक्ति होती है। अप्रयत्नपूर्वक अपने में सन्तुष्ट होना सफलता की कुञ्जी है।

●

जो मौजूद है, वही सबका अपना है, किन्तु उसकी उपलब्धि के लिये साधक को अपने ही में सन्तुष्ट होना है। अपने में सन्तुष्ट होने के लिये अप्रयत्न होना अपेक्षित है। जिसे वह चाहिये जो कभी है और कभी नहीं है, उसके लिये प्रयत्न अपेक्षित है। प्रयत्न का परिणाम अविनाशी नहीं होता, यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है। अतः प्रयत्न-रहित होकर ही साधक अपने में सन्तुष्ट हो सकता है। अपने से भिन्न में कुछ नहीं है,

अपने में सब कुछ है; अर्थात् जो अपने में है उसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से अप्रयत्न होकर अपने में सन्तुष्ट होना अनिवार्य है। अप्रयत्न होने के लिये मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना है; किन्तु उसके बदले में कुछ नहीं चाहिये--इस वास्तविकता में दृढ़ रहना है। मिले हुए के सदुपयोग से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और अपने में सन्तुष्ट होने से अपना कल्याण होता है। मिले हुए का दुरुपयोग करने से मानव पराधीनता में आबद्ध हो जाता है और परिवार, समाज, संसार आदि के लिये अनुपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से मिले हुए का दुरुपयोग भारी भूल है। मिले हुए के सदुपयोग का अभिमान तथा फलासक्ति रखने पर जीवन अपने लिये अनुपयोगी हो जाता है। अतः न तो मिले हुए का दुरुपयोग करना है और न सदुपयोग का अभिमान तथा फलासक्ति रखना है। यही कर्तव्य-विज्ञान है। कर्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष योग-विज्ञान है। योग साधक को अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-विज्ञान तथा योग-विज्ञान एक ही जीवन के दो पहलू हैं। योग सिद्ध होने पर कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है और कर्तव्यनिष्ठ होने पर योग सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। कर्तव्यपरायणता तथा योग जीवन-विज्ञान है, इसका मानव-जीवन से विभाजन नहीं किया जा सकता; अर्थात् यह मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करता है। आवश्यकता है अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप और चिन्मय जीवन की। इसकी उपलब्धि किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से नहीं होती, यह सर्वमान्य सत्य है। जिसकी उपलब्धि

पर की अपेक्षा नहीं रखता उसकी उपलब्धि, नित्ययोग अर्थात् अपने में सन्तुष्ट होने से ही होती है। इस वास्तविकता का अनुभव तथा इसमें अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है।

योग किसी अप्राप्त की प्राप्ति नहीं कराता; अपितु जो विद्यमान है, सभी का अपना है, सभी में है, उसी से दूरी मिटाता है। जो सभी को सर्वदा, सर्वत्र, सदा के लिये प्राप्त नहीं है, वह साधक को नहीं चाहिये। इसमें अविचल आस्था करने पर अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य स्वतः आती है। अपने में सन्तुष्ट होने का अर्थ क्या है? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट ही है कि क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति से असहयोग करने पर साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। पराधीनता तथा पराश्रय असह्य हो जाने पर ही सभी अवस्थाओं से असहयोग करने की सामर्थ्य आती है। सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थिति का आश्रय भी पराश्रय ही है। कोई-कोई साधक सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थिति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठते हैं। यद्यपि निर्विकल्प स्थिति बड़े ही महत्व की वस्तु है, परन्तु उसमें रमण करना निर्विकल्प बोध में बाधक है। निर्विकल्प बोध से ही साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। सर्व दुःखों की निवृत्ति एकमात्र अपने में सन्तुष्ट होने से ही होती है, किन्तु अनन्त रस की अभिव्यक्ति अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने पर होती है। जिसने अपना निर्माण किया है, वह अपने ही में है और अपना है। इतना ही नहीं, निर्माता ने अपने में से ही निर्माण किया है। उसे स्वीकार न कर दुःख-निवृत्ति मात्र से सन्तुष्ट हो जाना अपने को अनन्त-रस से वंचित रखना है। अपने में सन्तुष्ट होना साधन है, साध्य

नहीं; यद्यपि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। साधन और साध्य में स्वरूप से भिन्नता नहीं है, किन्तु साधन को साध्य मान लेने से अहम्-भाव रूपी अणु का सर्वांश में नाश नहीं होता। जिसके नाश हुए बिना योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता नहीं होती। योग, बोध और प्रेम साध्य की विभूतियाँ हैं और साधक का जीवन। भोग, मोह और आसक्तियों की निवृत्ति एकमात्र योग, बोध तथा प्रेम की उपलब्धि से ही होती है, जो एकमात्र अपने में सन्तुष्ट होने से ही साध्य है। योग, बोध तथा प्रेम का विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि योग की पूर्णता में बोध और बोध में प्रेम ओत-प्रोत है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो सभी अवस्थाओं से अतीत निर्विकल्प बोध से अभिन्न होते हैं, अर्थात् जिनकी अनन्त से दूरी, भेद एवं भिन्नता नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को सावधानीपूर्वक अपने में सन्तुष्ट होना है; अर्थात् परिश्रम, पराश्रय और पराधीनता का सर्वांश में अन्त करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव कर जो विद्यमान है, उसमें अविचल आस्था करे और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहे। उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर अप्रयत्न हो जाय। अप्रयत्न होते ही नित्ययोग स्वतः हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। इस दृष्टि से अप्रयत्नपूर्वक अपने में सन्तुष्ट होना सफलता की कुञ्जी है।

११

पराश्रय और परिश्रम में जीवन स्वीकार करना अविनाशी से विमुख होना है। वास्तविक जीवन विश्राम तथा स्वाधीनता में है। परिश्रम और पराश्रय में सुखाभास से चिन्तन दृढ़ होता जाता है और शक्तिहीनता की वृद्धि होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। चिन्तन का दृश्य देखो, किन्तु उसका समर्थन मत करो और उसकी सत्यता स्वीकार मत करो। जो कभी था पर अभी नहीं है, वह वास्तव में कभी नहीं है। जो कभी होगा, अभी नहीं है, वह अपना नहीं है। उससे तादात्म्य रखना या उसका विरोध करना 'नहीं' में 'है' बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। जब साधक दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, तब दृष्टि अपने-आप दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है। जब दृश्यमात्र से असंगता हो जाती है, तब साधक को अविनाशी जीवन से नित्ययोग, बोध, प्रेम प्राप्त होता है।

परिश्रम और पराश्रय में जीवन स्वीकार करना, अर्थात् यह मान लेना कि हम जब कुछ करेंगे तभी कुछ मिलेगा, बिना किये कुछ नहीं मिलता है—इस धारणा में आस्था करना मानव को अविनाशी जीवन से विमुख करता है। वास्तविक जीवन विश्राम तथा स्वाधीनता में है। पर जब इसमें अविचल आस्था नहीं करते, तब परिश्रम और पराश्रय में आस्था होने लगती है। परिश्रम और पराश्रय के द्वारा जिस किसी ने जो कुछ पाया, उससे उसका नित्य सम्बन्ध नहीं रहा, केवल प्रवृत्ति-जनित सुखाभास ही हुआ। किन्तु परिश्रम का परिणाम शक्ति-हीनता तो भोगनी ही पड़ती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं। इस कारण आवश्यक कार्य के अन्त में कुछ काल श्रम-रहित होना आवश्यक है। परन्तु श्रम-रहित होते ही आगे-पीछे का चिन्तन होने लगता है और वह शान्ति-सम्पादन में विघ्न हो जाता है। किसी अभ्यास-विशेष से वह चिन्तन कुछ काल के लिये भले ही दब जाय, पर उसका नाश नहीं होता। इस समस्या को किस प्रकार हल किया जाय, यह सभी साधकों के लिए विचारणीय है।

जो चिन्तन बिना चाहे, बिना किये होता है उसे प्राकृतिक कार्य मानना ही पड़ेगा। प्राकृतिक कार्य अहितकर नहीं होता। अहित तो एकमात्र भूल-जनित प्रवृत्तियों से होता है। फिर भी अपने-आप होने वाला चिन्तन विकास में बाधक ही प्रतीत होता है। परन्तु जो होता है, यदि हमें उसका सदुपयोग करना आ जाय, तो समस्या हल हो सकती है।

अपने-आप होने वाले चिन्तन में वह कभी नहीं आता, जिसको शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के द्वारा कभी विषय न

किया हो। अतः चिन्तन किये हुए भोग की स्मृति-मात्र है। भोगों का आकर्षण अपने-आप होने वाले चिन्तन में भी सुख का भास कराता है। उस सुखाभास से चिन्तन और दृढ़ होता जाता है। ज्यों-ज्यों चिन्तन दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों मानव में शक्ति-हीनता की वृद्धि होती जाती है, जिससे अनेक प्रकार की व्याधि उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से चिन्तन को बनाये रखना भारी भूल है। चिन्तन जिस वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध जोड़ता है, उनसे क्या नित्य सम्बन्ध सम्भव है ? सभी को मानना पड़ेगा कि यह सम्भव नहीं है। जिससे सम्बन्ध रह ही नहीं सकता, उसके चिन्तन का समर्थन करना निज-ज्ञान का अनादर है, जो विनाश का मूल है। चिन्तन का दृश्य देखो, किन्तु उसका समर्थन मत करो और उसकी सत्यता स्वीकार मत करो। जो कभी था, अभी नहीं है, वह वास्तव में कभी नहीं है। जो कभी होगा, अभी नहीं है, वह अपना नहीं है; उससे तादात्म्य रखना या उसका विरोध करना 'नहीं' में 'है'—बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। जब साधक 'नहीं' को 'है' के रूप में मान लेता है, तब उससे उसका छुटकारा कठिन हो जाता है। 'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करने से ही 'नहीं' की निवृत्ति होती है; और 'है' को 'है' स्वीकार करने से ही 'है' में अविचल आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक आत्मीयता होती है। इस दृष्टि से साधक को प्रतीत होने वाले दृश्य-मात्र से—चाहे वह दिखलाई देने वाला स्थूल दृश्य हो अथवा स्थूल दृश्य के चिन्तन के रूप में सूक्ष्म दृश्य हो—विमुख होना ही है, क्योंकि दृश्य की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। चिन्तन-रूपी दृश्य की यदि स्थिति स्वीकार न की जाय, तो चिन्तन निर्जीव होकर मिट जायगा। जब साधक दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; तब

दृष्टि अपने-आप दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है। दृष्टि का उद्गम अहं है और अहं भी दृश्य ही है; क्योंकि जिसकी प्रतीति होती है और जो भासित होता है, वह दृश्य ही है। इस दृष्टि से अपने को अहम्-रूपी दृश्य से भी असंग होना है, जो एकमात्र अप्रयत्न से ही साध्य है। जब दृश्य-मात्र से असंगता हो जाती है, तब उस अविनाशी जीवन से, जो सदैव है, सर्वत्र है, अद्वितीय है, साधक का नित्य-योग हो जाता है तथा उसे उसका बोध एवं प्रेम प्राप्त होता है और फिर भोग, मोह, और आसक्ति की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही साधक दृश्य के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। दृश्य के प्रभाव से रहित होते ही साधक की उसमें आस्था हो जाती है, जो दृश्य का आश्रय तथा प्रकाशक है और दृश्य की आस्था सर्वांश में मिट जाती है। इस कारण साधक को स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों ही प्रकार के दृश्य की सत्यता को अस्वीकार करना है। इसके अतिरिक्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने का और कोई अचूक उपाय नहीं है।

प्रतीति बिना प्रकाशक के और उत्पत्ति बिना आश्रय के नहीं होती। उत्पत्ति तथा प्रतीति का जो आश्रय तथा प्रकाशक है, वही वास्तव में है। 'है' की विस्मृति से ही 'नहीं' में 'है'—बुद्धि होती है और 'नहीं' में 'है' –बुद्धि होने से ही साधक दृश्य के प्रभाव में आबद्ध होता है। अत: जो सदैव नहीं है, सभी के लिए नहीं है, सर्वत्र नहीं है, उसको स्वीकार करना भूल है और जो सदैव है, सर्वत्र है, समर्थ है, सभी का है, अद्वितीय है, उसे स्वीकार करना और दृश्य को अस्वीकार करना सफलता की कुञ्जी है।

१२

सर्व का प्रकाशक तथा आश्रय अद्वितीय है। उसमें अविचल आस्था करना और सब प्रकार से उसी को अपना मानना व्यर्थ चिन्तन के नाश का अचूक उपाय है। व्यर्थ चिन्तन शरीर के आश्रय से उत्पन्न होता है और स्मृति अपने की आत्मीयता से अपने में जाग्रत होती है। जिसकी प्रतीति होती है उस पर विचार किया जा सकता है, विश्वास नहीं। विश्वास करने से दृश्य से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति होती है। अतः विश्वास करने योग्य एकमात्र वही है जो सर्व का ज्ञाता है तथा जिसका और कोई ज्ञाता नहीं है। इस दृष्टि से सर्वाधार को स्वीकार करना अथवा सभी स्वीकृतियों को अस्वीकार करना व्यर्थ चिन्तन के मिटाने में तथा अखण्ड स्मृति के जगाने में समर्थ है।

•

सर्व का प्रकाशक तथा आश्रय अद्वितीय है। उसमें अविचल आस्था करना और सब प्रकार से उसी को अपना मानना व्यर्थ चिन्तन के नाश करने का अचूक उपाय है; क्योंकि जिससे साधक सम्बन्ध स्वीकार करता है, उसी की उसमें स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति जाग्रत होने पर दृश्य-

मात्र से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। स्मृति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु साधक का सहज स्वभाव है। स्मृति उसी की होती है जो सदैव, सर्वत्र तथा सभी का है। स्मृति-मात्र से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। व्यर्थ चिन्तन शरीर के आश्रय से होता है और स्मृति अपने में अपने की जाग्रत होती है। स्मृति उसी की होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है। माने हुये सम्बन्ध से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता है। साधक का शरीर आदि समस्त दृश्य से माना हुआ सम्बन्ध है और जातीय भिन्नता है। जिससे माना हुआ सम्बन्ध है, उसकी सेवा की जा सकती है, उसका उपयोग किया जा सकता है, पर उसमें आत्मीयता नहीं की जा सकती। आत्मीयता तो एकमात्र उसी से हो सकती है जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, अपितु विस्मृति हो गई है। विस्मृति का नाश स्मृति से ही होता है। यह सर्वमान्य सत्य है जिन प्रवृत्तियों को साधक अनेक बार कर चुका है, उन्हीं का चिन्तन होता है। किन्तु यदि वह स्वयं विचार करे, तो उसे की हुई प्रवृत्तियों को दुहराना और उनका समर्थन करना अपनी भारी भूल जान पड़ेगी। भूल का ज्ञान भूल मिटाने में हेतु है। यह सभी को विदित है कि पराश्रय तथा प्रवृत्तियों द्वारा अभाव का अभाव नहीं हुआ, तो फिर क्या पराश्रय का त्याग अनिवार्य नहीं है? पराश्रय का त्याग करते ही स्वतः निर्वासना आती है, अर्थात् भोग-वासनाओं का नाश हो जाता है, जिसके होते ही स्वतः नित्ययोग की उपलब्धि होती है और फिर व्यर्थ चिन्तन शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिये पराश्रय का त्याग अनिवार्य है। सेवा के लिये 'पर' का आश्रय लेना विद्यमान राग की निवृत्ति में साधन-रूप है, किन्तु 'पर' के द्वारा अपनी वास्तविक माँग की

पूर्ति हो सकती है, यह भ्रमात्मक धारणा है। अपने से भिन्न जो कुछ है उसका सदुपयोग किया जा सकता है, उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता। पराश्रय का त्याग करते ही सर्वाधार का आधार स्वतः प्राप्त होता है। जो सर्वाधार है, वही सभी का है। जो सभी का है, उसमें अविचल आस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। उसकी आस्था अन्य आस्थाओं को शेष नहीं रहने देती, अर्थात् सर्वाधार की आस्था दृश्य की आस्था से मुक्त कर देती है। दृश्य से मुक्त होते ही साधक अपने ही में अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस वास्तविक जीवन की उपलब्धि वर्तमान का प्रश्न है, जो एकमात्र स्मृति से ही साध्य है। साधक जिसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास करता है उसमें उसी की स्मृति जाग्रत होती है। जिसकी प्रतीति होती है, उस पर विचार किया जा सकता है, विश्वास नहीं। विचार करने से प्रतीत की वास्तविकता का बोध होता है और विश्वास करने से दृश्य से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति होती है। अतः विश्वास करने योग्य एकमात्र वही है जो सर्व का ज्ञाता है तथा जिसका और कोई ज्ञाता नहीं है। उसको किसी ने इन्द्रिय, बुद्धि आदि दृष्टियों से विषय नहीं किया। जिसको बुद्धि, इन्द्रिय आदि के द्वारा विषय नहीं किया जा सकता, उसी में श्रद्धा तथा विश्वास करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी हमें बुद्धि-जन्य अनुभूति नहीं है, उसमें हम विश्वास नहीं करेंगे। तो क्या किसी ने अपने को बुद्धि-द्वारा अनुभव करके स्वीकार किया है ? सभी का यह कहना होगा कि हमें अपने को स्वीकार करने के

लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती और न किसी कारण ही की आवश्यकता होती है। हम स्वयं ही अपने को अपने-आप स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का हम स्वयं उपयोग करते हैं। ये सभी वस्तुएँ साधन-सामग्री के रूप में हैं। अब विचार यह करना है कि जब हम अपने को ही बिना बुद्धि आदि के समर्थन के स्वीकार कर लेते हैं तो जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा अपने में है, उसको क्या हम अपने द्वारा स्वीकार नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। यदि इस पर भी हम उसे स्वीकार करने में आपत्ति करते हैं तो फिर क्या अपने में से समस्त स्वीकृतियों का अन्त करना आवश्यक नहीं हो जाता ? अपने में से समस्त स्वीकृतियों का अन्त करते ही व्यर्थ चिन्तन का अपने-आप नाश हो जाता है और फिर जो अपने में अपना है उसकी सदा के लिये प्राप्ति हो जाती है; अर्थात् भोग, मोह और आसक्ति मिट जाती है और योग, बोध, तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से सर्वाधार को स्वीकार करना अथवा सभी स्वीकृतियों को स्वीकार करना व्यर्थ चिन्तन के मिटाने में तथा अखण्ड-स्मृति के जगाने में समर्थ है। अतः सर्वाधार को स्वीकार करना अथवा सभी स्वीकृतियों से रहित हो जाना सफलता की कुञ्जी है।

१३

देहाभिमान के रहते हुए आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन होता ही रहता है। यह प्रत्येक मानव का अपना अनुभव है। कार्य के अन्त में होने वाले चिन्तन को तटस्थ होकर देखना है। ऐसा करने से चिन्तन के मूल में जो अपनी वास्तविक मांग है, उसकी स्मृति जाग्रत होगी। मांग की पूर्ति किसी परिस्थिति से नहीं होती, प्रत्युत् प्राप्त परिस्थिति से असंग होने पर होती है। असंग होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर होने वाला व्यर्थ चिन्तन निर्जीव होकर मिट जाता है। व्यक्तिगत भिन्नता के कारण श्रम की शक्ति सभी में भिन्न-भिन्न है। जो तत्व सभी के लिए समान है, उसी में सर्वतोमुखी विकास है।

●

देहाभिमान के रहते हुए आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन होता ही रहता है, यह प्रत्येक मानव का अपना अनुभव है। किन्तु व्यर्थ चिन्तन किसी को अभीष्ट नहीं है। इस कारण उसकी निवृत्ति और सार्थक चिन्तक की जाग्रति प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्व-प्रथम पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर, विधिवत् प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। कार्य के अन्त में होने वाले

चिन्तन को तटस्थ होकर देखना है । ऐसा करने से चिन्तान में सजीवता नहीं रहेगी और फिर चिन्तान के मूल में जो अपनी वास्तविक मांग है, उसकी स्मृति जाग्रत होगी । माँग का बोध होने पर ही कर्तव्य का ज्ञान होता है । मानव की वास्तविक माँग क्या है, इस तथ्य पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अभाव, नीरसता, पराधीनता, जड़ता और परिच्छिन्नता आदि विकारों से रहित जीवन चाहिए । इस माँग की पूर्ति किसी परिस्थिति से नहीं होती, तो फिर अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का तथा प्राप्त परिस्थिति के तादात्म्य का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहता । अतः प्राप्त परिस्थिति से असंग होकर उसके सदुपयोग में ही साधक का अधिकार रह जाता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है ।

जब साधक के जीवन में परिस्थितियों का महत्व नहीं रहता, तव साधक स्वयं अपने द्वारा सत्संगी होकर साधन-निष्ठ हो जाता है । कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं आत्मीयता ही समस्त साधनों की भूमि है । कर्तव्य-परायणता से विश्व-शान्ति की समस्या हल हो जाती है और फिर साधक में स्वयं असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है । असंग होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर होने वाला व्यर्थ चिन्तन निर्जीव होकर स्वतः मिट जाता है । इस वास्तविकता का अनुभव करने के लिए साधक के लिए, जो नहीं करना चाहिए तथा जिसे नहीं कर सकते, उन प्रवृत्तियों का त्याग अनिवार्य है और फिर जो करना चाहिए तथा जिन्हें कर सकते हैं, उन प्रवृत्तियों को विद्यमान राग की निवृत्ति के

लिए पूरा करना है । करने के राग से रहित होते ही स्वतः साधक को विश्राम की उपलब्धि होती है। विश्राम जीवन-तत्व है; क्योंकि उसी में सर्वतोमुखी विकास, अर्थात् शक्ति का सम्पादन, विचार का उदय तथा प्रीति की जाग्रति साधक की वनावट के अनुसार क्रमशः उदित होती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक साधक को विश्राम का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है। यह सभी को मान्य होगा कि दो व्यक्ति भी सर्वांश में सर्वदा समान रूप से श्रम नहीं कर सकते; क्योंकि सभी के पास समान सामर्थ्य नहीं है। इतना ही नहीं, श्रम से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है और विश्राम मिलते ही स्वतः सामर्थ्य का सम्पादन होने लगता है। इस वास्तविकता में आस्था करने पर विश्राम सभी के लिए प्राकृतिक नियमानुसार आवश्यक हो जाता है । विश्राम-काल में सभी मानव समान स्थिति में होते हैं। जो तथ्य सभी के लिए समान रूप से है, उसी में सर्वतोमुखी विकास है। इस दृष्टि से जीवन को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक हो जाता है—सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप कार्य करना और प्रत्येक कार्य के अन्त में शान्त होना। यह तभी सम्भव होगा जब साधक कर्तव्य-पालन के अभिमान से रहित होकर निष्काम हो जाय। निष्कामता से उदारता, समता एवं प्रियता पोषित होती है। इस दृष्टि से निष्कामता को अपना लेना सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व में फँसा मानव न तो अपनी वास्तविक आवश्यकता का ही अनुभव कर पाता है और न अपने दायित्व को ही पूरा कर पाता है। आवश्यकता के अनुभव और अपने दायित्व की पूर्ति में ही विकास निहित है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व

का अन्त करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब मानव, कामना-पूर्ति और अपूर्ति दोनों ही दशाओं में पराधीनता का अनुभव करे। कामना-पूर्ति की सुखद पराधीनता को स्वीकार करना, नवीन कामनाओं को जन्म देना है और कामना अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना, अपने ही द्वारा अपना मूल्य घटाना है। यदि साधक विचार-पूर्वक सुख-दुःख का सदुपयोग करने लगे, तो बड़ी सुगमतापूर्वक सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हो जाता है जिसके होते ही कामना-निवृत्ति अपने-आप आ जाती है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक निष्काम होकर जगत् के प्रति उदार और प्रभु का प्रेमी हो जाता है। इतना ही नहीं, उसे अपने लिए जगत् और जगत्-पति से कुछ भी माँगना शेष नहीं रहता और सदा के लिए समता पाकर वह सर्व दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव एवं दायित्व को पूरा करना सफलता की कुञ्जी है।

१४

मानव-मात्र के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसका लक्ष्य क्या है तथा उसकी प्राप्ति का साधन क्या है। लक्ष्य उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति अनिवार्य हो। यह मानव-मात्र का प्रश्न है कि हमारा वास्तविक जीवन क्या है। उस जीवन की खोज करना, उसको जानना, उसे प्राप्त करना इस जीवन का परम पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से हम सभी को अपने को उससे विमुख कर लेना है जो वास्तविक जीवन नहीं है। आप विचार करेंगे तो मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियां, पद, सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति इन सबसे अपने को असंग कर लेना होगा। ऐसा करते ही जो वास्तविक जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति होगी।

•

मानव-जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है। इसी जीवन में प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि हमारा वास्तविक लक्ष्य क्या है। इस सम्बन्ध में एक बात बड़े ही ध्यान से सामने रखनी है कि लक्ष्य उसे नहीं कहते, जिसकी प्राप्ति

न हो और साधन उसे नहीं कहते कि जिसके करने में साधक स्वाधीन न हो। इन दोनों बातों को सामने रखने से हमारे जीवन में एक नवीन आशा का संचार होता है कि हम साधन कर सकते हैं और साध्य हमें प्राप्त हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि वास्तव में जो साध्य हमें प्राप्त हो सकता है, वह है क्या और हमें उसके लिये क्या साधन करना है। साध्य उसे ही कह सकते हैं कि जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता हो अथवा जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध हो। इस प्रश्न को सामने रखकर यदि विचार करें तो यह सभी को स्पष्ट रूप से विदित हो जायगा कि किसी भी वस्तु से न तो हमारा नित्य सम्बन्ध है और न उससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता ही। जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसको प्राप्त करना हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता, वह हमारा साध्य नहीं हो सकता।

वस्तु कहते ही उसे हैं कि जिसकी उत्पत्ति हो, जिसका विनाश हो, जिसमें परिवर्तन हो और जो पर-प्रकाश्य हो; अर्थात् जो अपने को अपने-आप प्रकाशित न कर सके। इस परिभाषा के अनुसार हमारा शरीर भी एक वस्तु है। जब वह वस्तु है, तो उससे भी हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, उससे आत्मीयता स्वीकार करना, अपनापन स्वीकार करना, उससे ममता कर लेना अपने ही विवेक का विरोध है। जिसमें अपने विवेक का विरोध है, वह त्याज्य है। इसका तात्पर्य कोई यह न समझे कि शरीर त्याज्य है, तो खुदकशी कर ली जाय। इसका अर्थ केवल

इतना ही है कि शरीररूपी जो वस्तु आपको प्राप्त है, उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करें, किन्तु उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार न क ें। इसका अर्थ यह है कि एक तो यह न सोचें कि शरीर सदैव हमारे साथ रहेगा और दूसरी बात यह है कि यह न समझें कि शरीर हमारा है। यह बात व्यवहार में तो कही जाती है, पर यह सत्य नहीं है। जैसे एक मिल का मजदूर कह सकता है कि मिल मेरी है, इञ्जीनियर भी कहता है कि मिल मेरी है। यहाँ 'मेरी' का अर्थ यह नहीं है कि वे मिल के मालिक हैं। उनका तात्पर्य इतना ही है कि वे मिल में काम करते हैं। इसी प्रकार यह जो हमारा शरीर है, जिसे हम अपना कहते हैं, उसके साथ भी हमारा उतना ही सम्बन्ध है, उससे अधिक नहीं। इन प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में ही हमारा अधिकार है और उनके सदुपयोग से प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन का निर्माण तथा साध्य की उपलब्धि होनी चाहिये। इससे अधिक वस्तुओं का जीवन में कोई महत्व नहीं है। तात्पर्य यह निकला कि वस्तुएँ जीवन नहीं हैं, अपितु साधन-सामग्री हैं।

इस दृष्टि से हम सबको यह समस्या अपने-आप हल करनी पड़ेगी कि हमारा लक्ष्य क्या है, हम चाहते क्या हैं, हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है ? वह कौन-सा जीवन है कि जिसके बिना हम रह नहीं सकते और जो हमारे बिना रह नहीं सकता ? यह प्रश्न मानव-मात्र का प्रश्न है। यह किसी वर्ग का प्रश्न नहीं है। यह किसी दल-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष का प्रश्न नहीं है। यह मानव-मात्र का प्रश्न है कि हमारा वास्तविक जीवन क्या है ? उस जीवन की खोज करना, उसको जानना, उसे प्राप्त करना इस जीवन का परम पुरुषार्थ है।

हमें यह बात तो मालूम हो गई कि किसी वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य नहीं है। अब यहाँ एक बहुत बड़ा गम्भीर प्रश्न उपस्थित होगा—कुछ लोग कहेंगे कि वस्तु से रहित तो हम कुछ जानते ही नहीं। लेकिन विचार करें, यह बात आपके ही ज्ञान से कहाँ तक ठीक है! आप ही स्वयं सोचें कि जिसके परिवर्तन का, जिसके अभाव का आपको ज्ञान है, वह परिवर्तनशील वस्तु आप कैसे हो सकते हैं! आपको मानना ही पड़ेगा कि जिसे आप जानते हैं, वह आपसे भिन्न होगा। तो आप प्रत्येक वस्तु को जानते हैं, वस्तुओं की उत्पत्ति, उनके परिवर्तन तथा उनके अभाव को जानते हैं। आप यह नहीं कह सकते हैं कि हम वस्तुओं की उत्पत्ति, उनके परिवर्तन तथा अभाव को नहीं जानते। यहाँ किसी के हृदय में दार्शनिक द्वन्द्व उत्पन्न होगा। कुछ लोग यह कहेंगे कि जिसे जानना कहते हैं, वह भी तो इस शरीररूपी वस्तु का स्वभाव है। थोड़ी देर के लिये एक ऐसा विपक्ष स्थापित कर लें कि जिसे हम जानना कहते हैं, वह भी शरीररूपी वस्तु का ही कार्य है; इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, शरीर— ये सब भी तो वस्तुएँ हैं और इन्हीं के द्वारा तो हम जानते हैं! इन्द्रियों के द्वारा हम बहुत सी बातें जानते हैं, मन के द्वारा तथा बुद्धि के द्वारा हम बहुत सी बातें जानते हैं। तो आप कह सकते हैं कि शरीर से अलग भी जानने की कोई शक्ति है,यह सोचना ही अपने को धोखा देना है। लेकिन, यदि हम पूछें कि आपकी बुद्धि जैसी इस समय है, क्या बीस-पच्चीस वर्ष पहले भी ऐसी ही थी? आपका तन, आपका मन, आपकी परिस्थिति, जैसी इस समय है, क्या वैसी ही पहले थी? क्या वह आगे वैसी ही रहेगी? कम-से-कम यह तो कहना ही

पड़ेगा कि ये सब जैसे पहले थे, वैसे अब नहीं हैं। तो फिर यह मानने में क्या आपत्ति हो सकती है कि जैसे अब हैं, वैसे आगे नहीं रहेंगे। अब, यदि यह पूछा जाय कि परिस्थिति के, अवस्थाओं के परिवर्तन का ज्ञान तो आपको हुआ, लेकिन कभी आपको यह भी भास हुआ कि जो मैं पहले था, वह अब नहीं हूँ! आप सबको यह बात माननी पड़ेगी कि सचमुच यह भास नहीं हुआ। आप यह तर्क कर सकते हैं कि यदि यह मान भी लें कि हमें यह भास नहीं हुआ कि जो हम पहले थे, वह अब नहीं हैं,तो हम यह भी तो नहीं जानते कि हम क्या हैं! बहुत ठीक; लेकिन क्या आपको यह भास होता है कि हम नहीं हैं? आपको कहना पड़ेगा कि ऐसा भास तो नहीं होता कि हम नहीं हैं। हम हैं तो अवश्य, हमें अपनेपन का भास तो होता है, पर हम सचमुच यह नहीं जानते कि हम क्या हैं। जब हम सचमुच नहीं जानते कि हम क्या हैं, तब हमें निर्णय देने का क्या अधिकार है? सन्देहकाल में कोई निर्णयात्मक बात नहीं कही जा सकती।

ऐसी स्थिति में हमारा एक आवश्यक प्रश्न यह हो सकता है कि हम क्या हैं? अपने सम्बन्ध में हम जानना चाहते हैं। इसका बड़ा सीधा-सादा उपाय है कि जो शक्ति आप दूसरों के सम्बन्ध में जानने में लगाते हैं, उसे अपने को जानने में लगा दें। आप कहेंगे कि दूसरों को जानने में हम जो शक्ति लगाते हैं, उस शक्ति के द्वारा हम अपने सम्बन्ध में जान ही नहीं सकते। हम इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के विषयों को जानते हैं, मन के द्वारा इन्द्रियों को जानते हैं और बुद्धि के द्वारा मन आदि को जानते हैं। तो क्या इन सब के द्वारा हम अपने को जान सकेंगे! अच्छा भाई, तो जिस मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि से हम

अपने को नहीं जान सकते, तो कम से कम यह तो कर ही सकते हैं कि हम उन सबसे थोड़ी देर के लिये विमुख हो जायँ, उनसे सम्बन्ध तोड़ दें, थोड़ी देर के लिये उनसे काम लेना बन्द कर दें।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम बुद्धि आदि से सम्बन्ध कैसे तोड़ सकते हैं? इस सम्बन्ध में विचार यह करना है कि हम बुद्धि, मन, शरीरादि से काम लेते कब हैं? आपको यह मानना पड़ेगा कि जब हम अपनी कामना पूरी करना चाहते हैं और इसके लिये हमको वस्तुओं की आवश्यकता होती है, तभी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की आवश्यकता होती है। ज्ञान, विज्ञान, कलाओं और शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। यह हम सबको मानना होगा कि बिना वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य और शिक्षा के कामना-पूर्ति नहीं हो सकती। यदि कामना-पूर्ति ही जीवन हो, तो कहना पड़ेगा कि वस्तु ही जीवन है और यदि यह निर्णय हो जाय कि कामना-पूर्ति-मात्र ही जीवन नहीं है, उससे आगे भी जीवन हो सकता है, उससे विलक्षण भी जीवन हो सकता है, तब यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि वस्तु जीवन नहीं है।

कामना-पूर्ति के लिये वस्तु आवश्यक है, यह सिद्ध हो गया। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आप कह सकते हैं, या संसार का कोई भी बड़े-से-बड़ा व्यक्ति कह सकता है कि मेरी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, हो गई हैं या हो सकती हैं? मैंने तो अभी तक नहीं सुना और न अपने जीवन में ही अनुभूति हुई कि सभी कामनाएँ पूरी हो गयी हों। परन्तु यह बात भी

नहीं है कि कोई कामना पूरी न हुई हो। देखने से यही मालूम होता है कि कुछ कामनाएँ तो पूरी हो ही जाती हैं, हम चाहें तो भी, न चाहें तो भी। कुछ कामनाएँ ऐसी भी हैं जो पूरी होती ही नहीं हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं, उन्हें जीवन में रखना कुछ अर्थ नहीं रखता और जो कामनाएँ पूरी हो ही जाती हैं,उनके लिये चिन्ता करना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार कामनाओं के साथ सम्बन्ध रखना कोई महत्व की वात नहीं मालूम होती,इसका कोई अर्थ जीवन में नहीं मालूम होता;अर्थात् कामना-पूर्ति ही जीवन नहीं है, वह जीवन का लक्ष्य नहीं है।

१५

यह सभी का अनुभव है कि कामना-पूर्ति जीवन नहीं है। तब यह प्रश्न बनता है कि कामना-पूर्ति का जीवन में स्थान क्या है ? कामना-पूर्ति की निस्सारता कामना निवृत्ति की प्रेरणा देती है। कामना की पूर्ति अपूर्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है। देह का अभिमान कामना-पूर्ति के सुख के आधार पर टिका रहता है। देहाभिमान का अन्त कर वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति का साधन है .... (क) कामना अपूर्ति से भयभीत न होना (ख) कामना अपूर्ति के सुख की दासता में आबद्ध न होना (ग) कामना निवृत्ति की शान्ति में भी रमण न करना।

●

यह सिद्ध हो जाने पर कि कामना-पूर्ति जीवन नहीं है, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर कामना-पूर्ति का जीवन में स्थान ही क्या है ? मैं यह नहीं कहता कि कामना-पूर्ति का जीवन में कोई स्थान नहीं है। उसका जीवन में स्थान है, पर कामना-निवृत्ति के लिए; और जब कामना-पूर्ति कामना-

निवृत्ति के लिए है, तो फिर कामना की पूर्ति-अपूर्ति लक्ष्य नहीं हो सकती, जीवन नहीं हो सकती। तव प्रश्न उठता है कि क्या कामना-निवृत्ति जीवन है ? अव आप विचार करें कि कामना-अपूर्ति में क्या भास होता है ? अभाव का ही भास होता है। और कामना-पूर्ति में सुख मालूम होता है तथा उस सुख का प्रभाव यह होता है कि जिन साधनों से कामना-पूर्ति होती है, उनकी अधीनता ही हमें मिलती है। परन्तु वे साधन सदा अभावरूप होते हैं, परिवर्तनशील और पर-प्रकाश्य होते हैं। तात्पर्य यह निकला कि कामना-पूर्ति का सुख हमें उन परिवर्तनशील अभावरूप साधनों की अधीनता और जड़ता में आवद्ध कर देता है। तो कामनापूर्ति भले ही सुखद मालूम हो, उसका परिणाम तो संसार के किसी मानव को अभीष्ट नहीं हो सकता। अतः कामना-पूर्ति-मात्र में जीवन नहीं हो सकता और जव कामना-पूर्ति में जीवन नहीं है, तो कामना-अपूर्ति का भय कुछ अर्थ नहीं रखता। क्योंकि जब कामना-पूर्ति जीवन नहीं है, तो फिर कामना चाहे पूरी हो या न हो, उसमें विशेष अन्तर नहीं है। हाँ, एक अन्तर अवश्य है – कामना-पूर्ति के पूर्व उसके प्रति मन में जो प्रलोभन बैठा रहता है कि न जाने कितना सुख कामना-पूर्ति में होगा, वह प्रलोभन बिना कामना-पूर्ति के सुख का अनुभव किये दूर नहीं हो सकता। वस, इतनी बात के लिये कि कामना-पूर्ति में कितना सुख है, इसको जानने के लिये कामना-पूर्ति का जीवन में कुछ स्थान है। इसी वात को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि विद्यमान राग की वास्तविकता को जानने तथा उसकी निवृत्ति के लिये ही कामना-पूर्ति साधन-मात्र है।

अब रही कामना-अपूर्ति, जो दुख देती है। उसका भी जीवन में स्थान है। कामना-पूर्ति का जीवन जब आपको पराधीन बना देता है, जड़ता में आबद्ध कर देता है, जो आपको अभीष्ट नहीं है, तो क्या आपके सामने यह प्रश्न नहीं आता कि कामना-पूर्ति के ऊपर का जीवन आपको चाहिये ? कामना-अपूर्ति क्या उस जीवन की खोज में सहायक नहीं है, साधन-रूप नहीं है ? आपको मानना पड़ेगा कि अवश्य है। इस दृष्टि से प्रकृति का विधान मंगलमय ही है कि कुछ कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और कुछ पूरी नहीं होतीं। जो कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, वे सुख की वास्तविकता का परिचय कराने में समर्थ हैं और जो पूरी नहीं होतीं, वे दुःख की जागृति के द्वारा कामनापूर्ति से ऊपर के जीवन में ले जाने में सहायक होती हैं। अतः कामना-अपूर्ति का भी हमें उतना ही स्वागत करना है, जितना कि कामना-पूर्ति का। हमें यह बात बड़ी गम्भीरता के साथ अपने जीवन में रखनी है कि कामना-पूर्ति और अपूर्ति दोनों में हमारा विकास निहित है। इस दृष्टि से संसार में जो दुःख है, वह भी विकास का साधन है और जो सुख है, वह भी विकास का साधन है। सुख-दुःख जीवन नहीं हैं, परन्तु साधन-सामग्री अवश्य हैं। इस दृष्टि से आये हुए सुख का भी और आये हुए दुःख का भी हमें स्वागत करना है। सुख का भी सदुपयोग करना है और दुःख का भी। जब हम आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करना सीख जायेंगे, तो हमारा जीवन साधन-निष्ठ हो जायगा। फिर भी हमारा आरम्भिक प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों रहा कि हमारा साध्य क्या है ?

इतनी बात तो स्पष्ट हो गई कि सुख-दुःख हमारा जीवन नहीं है, वह हमारा साध्य नहीं हो सकता। अब आगे विचार कीजिये कि जब सुख हमारा साध्य नहीं है, तो उसकी दासता हममें नहीं रह सकती और न दुःख का भय ही रह सकता है। एक बात और समझने की है कि जो अपना साध्य नहीं रहता, वह अपने आप आता है और जाता भी अपने आप ही है। साध्य से भिन्न जो कुछ भी होगा, वह आपके साथ रह नहीं सकता। इसलिए आया हुआ सुख भी नहीं रहेगा और आया हुआ दुःख भी नहीं रहेगा। परन्तु सुख की दासता सुख को बनाये रखने के लिए और दुःख का भय दुःख को न आने देने के लिये हमें प्रेरित करता है। हमारी यह प्रेरणा मानव की प्रेरणा नहीं है। यह देहाभिमानी व्यक्ति की प्रेरणा है। तो क्या देहाभिमानी व्यक्ति को मानव नहीं कह सकते ? बोलचाल की भाषा में उसे भले ही मानव कहें, पर वास्तवव में दार्शनिक भाषा में उसे मानव नहीं कहा जा सकता। जिसे आप मानव कहते हैं, वह वास्तविक मानव तभी हो सकेगा, जब उसमें देहाभिमान न रहे।

अब देह का अभिमान गलाने के लिए पहली आवश्यक बात यह जानना है कि देहाभिमान किस बात पर टिका है ? तब फिर वही पहली बात सामने आयेगी कि कामना-पूर्ति जीवन नहीं है। कामना-पूर्ति के आधार पर ही वस्तु से सम्बन्ध रहता है। वस्तु से सम्बन्ध तोड़ने पर देहाभिमान गल जाता है। यहाँ एक बात और बहुत गम्भीरता से सोचने की है कि जब कामना-पूर्ति जीवन नहीं है, तो कामना-अपूर्ति का दुःख भी नहीं हो सकता। यदि हम ऐसी स्थिति में रह

सकें जहां कामना-अपूर्ति का दुःख न हो और पूर्ति के सुख का भोग न हो, तो हम उस जीवन को जानने में समर्थ हो सकते हैं जो कामना-पूर्ति और अपूर्ति से अतीत है। आप कह सकते हैं कि यह अवस्था अखण्ड नहीं रह सकती, कुछ देर बाद कोई-न-कोई कामना उठेगी और कामना-पूर्ति-अपूर्ति का चक्र चलता ही रहेगा; क्योंकि अखण्ड न कामना-पूर्ति है, न अपूर्ति या उत्पत्ति। इनके मूल में एक ऐसी स्थिति भी होती है, जिसे न पूर्ति कह सकते हैं, न अपूर्ति। जैसे बोलने के बाद चुप भी होते हैं और दुवारा वोलते भी हैं; चलने के बाद स्थिर भी होते हैं और फिर चलते भी हैं। अतः कामना-पूर्ति और अपूर्ति के बीच में एक मध्यकाल भी होता है, जब एक कामना पूरी हो जाती है और दूसरी की उत्पत्ति नहीं होती। इसका नाम कामना-निवृत्ति रखा जा सकता है। वह भी एक अवस्था है और अखण्ड नहीं हो सकती। परिणाम यह निकला कि कामना की पूर्ति, अपूर्ति और निवृत्ति तीनों ही अवस्थाएँ हैं। अवस्थाएँ जितनी होंगी, वे सब पर-प्रकाश्य होंगी, वे नित्य नहीं हो सकतीं, अखण्ड नहीं हो सकतीं। यद्यपि तीनों अवस्थाओं में बड़ा अन्तर है— कामना-अपूर्ति-काल में दुःख का भास होता है, पूर्ति-काल में सुख का भास होता है और निवृत्ति-काल में शान्ति का और ये एक की अपेक्षा सुखद और उत्कृष्ट भी हो सकती हैं। फिर भी वे जीवन नहीं हो सकतीं और जो जीवन नहीं है, उसे अपना लक्ष्य नहीं कह सकते।

फिर वही प्रश्न उठता है कि हमारा लक्ष्य क्या है? तो लक्ष्य वही हो सकता है, जो उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से विलक्षण हो। निषेधात्मक दृष्टि से यही कह सकते हैं कि

कामना-पूर्ति, अपूर्ति और निवृत्ति से अतीत जो जीवन है, वही हमारा लक्ष्य हो सकता है। अब विचार कीजिये कि जो इन सबसे अतीत है, वह जीवन क्या अभावरूप होगा, परिवर्तनशील होगा, पर-प्रकाश्य होगा? कहना पड़ेगा कि नहीं होगा, क्योंकि वह उत्पन्न होने वाला जीवन नहीं है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसके सम्बन्ध में तो परिवर्तन की बात कही जा सकती है और जड़ता की भी बात कही जा सकती है, किन्तु जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह परिवर्तनशील और पर-प्रकाश्य है। तो जो पर-प्रकाश्य नहीं होगा, उसे क्या कहेंगे? उसे यही कहेंगे कि जो अपने को आप प्रकाशित करने में समर्थ हो। वही हमारा वास्तविक जीवन हो सकता है और वही हमारा लक्ष्य भी हो सकता है। अच्छा, जो अपने को आप प्रकाशित करने में समर्थ है, उसके जानने के लिए क्या अन्य साधन की अपेक्षा होगी? कहना पड़ेगा कि नहीं। तात्पर्य यह निकला कि वह जीवन अपने ही द्वारा आप जाना जाता है, अर्थात् उस जीवन से ही जाना जाता है। तो प्रश्न उठेगा कि उस जीवन तक पहुँचें कैसे?

उस तक पहुँचने का सीधा उपाय है कि—(१) कामना-अपूर्ति से भयभीय होना बन्द करदें, (२) कामना-पूर्ति के सुख की दासता में रमण न करें, (३) कामना-पूर्ति के सुख का भोग न करें और (४) कामना-निवृत्ति की शान्ति में भी रमण न करें। यह वास्तविक जीवन की प्राप्ति का स्वाभाविक साधन है। इसी बात को यदि सरल शब्दों में कहा जाय, तो कहना

होगा कि जीवन में जो सुख, दुःख और शान्ति का भोग है उसे छोड़ दें। यह तो लोग कहते हैं कि अब हम शान्त रहना चाहते हैं, अमुक सुख भोगना चाहते हैं; यह कोई नहीं कहता कि हम दुःख भोगना चाहते हैं। पर सुख के भोग में दुःख का भोग निहित रहता है, सुख भोगने के लिए दुःख अपेक्षित रहता है; जैसे भोजन का सुख भोगने के लिए भूख का दुःख पहले भोगना पड़ता है। तो हमें सुख भी नहीं भोगना है, दुःख भी नहीं और शान्ति भी नहीं भोगनी है। शान्ति का भोग न करने से क्या लाभ होगा ? सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि शान्ति जीवन की ओर ले जायगी। उससे जीवन की प्राप्ति की सामर्थ्य आयेगी। यदि शान्ति का भोग करते रहेंगे, तो सबसे बड़ी हानि यह होगी कि हमारे भोक्तापन के स्वभाव का नाश नहीं होगा। यदि शान्ति के भोग से भोगने के स्वभाव का नाश हो गया होता, तो प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में जो शान्ति सभी को प्राप्त होती है, उससे समर्थ्य प्राप्त कर सुख-दुःख के भोग में फिर न लगते। अतः शान्ति सामर्थ्य-सम्पादन के लिए है, भोग के लिए नहीं है। जीवन में जो सुख है, वह सुख की वास्तविकता जानने के लिए है, भोग के लिए नहीं। दुःख जागृति के लिए है, भयभीत होने के लिए नहीं। दुःख से जागृति प्राप्त करना है, सुख से सुख की वास्तविकता को जानना है और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य का सम्पादन करना है। जिस साधन से सामर्थ्य का सम्पादन हो, उसे यदि हम भोगने लग जायँ, तो सामर्थ्य का सम्पादन नहीं होगा। इस दृष्टि से शान्ति में भी रमण नहीं करना है। परन्तु सुख की दासता से मुक्त होकर, दुःख के भय से मुक्त होकर शान्ति को प्राप्त अवश्य करना है।

शान्ति को प्राप्त करने के एक साधारण साधन की बात का यहाँ निवेदन करना है। सबसे पहली बात यह है कि वर्तमान कार्य जिसे करना हो अथवा जिसे बिना किये नहीं रह सकते और जिससे किसी का अहित नहीं है, उस वर्तमान कार्य को इतनी सुन्दरता से करें कि जितनी सुन्दरता से कर सकते हैं। ऐसा करने से करने का जो राग है, वह नष्ट हो जायगा और जब करने का राग नष्ट हो जायगा, तब कार्य के अन्त में आपको शान्ति मिलेगी। परन्तु यदि आपने उस किये हुए कार्य के फल की आशा करली या उस कार्य में जो क्रिया-जनित सुख है, उसका भोग किया तो तमाम शान्ति भंग हो जायेगी। इन दो बातों की ओर ध्यान रखना है कि वर्तमान कार्य सुन्दर से सन्दर करना और उसके फल की आशा न करना। तब कार्य के अन्त में शान्ति सुरक्षित रहेगी और शान्ति का यह स्वभाव है कि वह आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करेगी, जिससे हमें वह जीवन मिल सकेगा, जो हमारा लक्ष्य है।

१६

जो है उसमें विश्वास करना और जो नहीं है उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने से सत्य में आत्मीयता और असत्य को अस्वीकार करने से उससे असंगता स्वतः होती है। साधक की जिसमें आत्मीयता होती है उसमें सहज स्नेह तथा अगाध प्रियता स्वतः होती है। और जिससे असंगता हो जाती है साधक उसके प्रभाव से मुक्त हो जाता है। सृष्टि और सृष्टि के प्रकाशक से साधक का अविभाज्य सम्बन्ध है। इस बात की विस्मृति न हो तो बड़ी सुगमतापूर्वक राग द्वेष की निवृत्ति एवं स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। 'है' के नाते 'नहीं' को अपना माना जा सकता है और इस प्रकार सर्वात्मभाव को स्वीकार करने पर उदारता तथा निष्कामता सुदृढ़ होती है, जिसके होते ही अनन्त में आत्मीयता एवं विश्व में सर्वात्मभाव आ जाता है, जो सफलता की कुञ्जी है।

●

यह सर्वमान्य सत्य है कि जो है, वह सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है और अद्वितीय है। उसमें अविचल आस्था करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। और जो नहीं है, वह

कभी नहीं है, किसी का नहीं है और कहीं नहीं है, उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना भी साधक-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वीकार करना और अस्वीकार करना यह साधक का स्वधर्म है। सत् को स्वीकार करने से सत् में आत्मीयता और असत् को अस्वीकार करने से असत् से असंगता स्वतः होती है। साधक की जिसमें आत्मीयता होती है उसमें सहज-स्नेह तथा अगाध-प्रियता स्वतः होती है और जिससे असंगता हो जाती है, साधक उसके प्रभाव से रहित हो जाता है। प्रियता में अनन्त-रस विद्यमान है, जिसकी माँग प्रत्येक साधक को स्वभाव से है। साधक जिसके प्रभाव से रहित हो जाता है, उससे वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। मुक्ति में चिर-शान्ति तथा अमरत्व विद्यमान है। जिसकी साधक को प्रतीति हो और उसमें प्रवृत्ति भी हो, किन्तु प्राप्ति न हो, वह वास्तव में है नहीं। 'नहीं' को 'है' के रूप में स्वीकार करना प्रमाद ही है और कुछ नहीं, जिसकी निवृत्ति प्रत्येक साधक को अभीष्ट है। जिसकी प्रतीति होती है, उसको जानने की और प्राप्त करने की कामना उत्पन्न हो जाने पर साधक पराधीनता तथा बेबसी एवं अभाव का अनुभव करता है; यद्यपि प्रत्येक साधक को अभाव में आबद्ध रहना रुचिकर नहीं है, अपितु अभाव का अभाव ही अभीष्ट है, अर्थात् पूर्णता ही उसकी अपनी माँग है।

माँग की पूर्ति और कामनाओं की निवृत्ति होती है, यह वैधानिक तथ्य है। प्रतीति की कामना साधक को 'है' से विमुख करती है। निष्काम होते ही 'है' में प्रियता हो जाती है और 'नहीं' में आसक्ति शेष नहीं रहती। प्रियता से

दूरी, भेद, भिन्नता सब मिट जाते हैं और फिर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। आसक्ति-रहित होते ही साधक स्वाधीन हो जाता है और फिर वह अपने ही में अपने साध्य को पाकर सदा के लिये जड़ता, अभाव एवं नीरसता से रहित हो जाता है, जो सभी को अभीष्ट है। इस दृष्टि से प्रियता और अनासक्ति में ही जीवन है। प्रतीति का प्रकाशक और उत्पत्ति का आधार जो है, वही 'है' है। उससे भिन्न जो प्रतीति है, वह वास्तव में 'नहीं' है। 'नहीं' में 'है'—बुद्धि रखना साधक की अपनी भूल है। भूल-रहित होने का दायित्व साधक पर है। ज्यों-ज्यों साध्य की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों साधक में भूल-रहित होने की सामर्थ्य आती जाती है। सामर्थ्य साध्य की देन है। साधक को उसका सदुपयोग करना है, जिसकी स्वाधीनता उसको प्राप्त है। स्वाधीनता के दुरुपयोग से ही साधक असाधन में आबद्ध हो गया है। इस दृष्टि से स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

असमर्थता सामर्थ्य के दुरुपयोग से उत्पन्न होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करने से उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि ही होती रहती है। यह सर्व-समर्थ की सहज उदारता है। उदारता से प्रेरित होकर ही साध्य ने अपने ही में से साधक का निर्माण किया है। इस कारण साधक की साध्य से जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है। प्राप्ति उसी की होती है, जिससे नित्य सम्बन्ध है। साधक का जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसका उसने इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा अनुभव नहीं किया। जिसका

इन्द्रिय आदि के द्वारा अनुभव किया, उससे साधक की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एकता नहीं है, उससे निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है और जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है, उससे आत्मीयता स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है, जिसे साधक स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। वह जो कर सकता है, वही करना है। उसके करने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। जब करना शेष नहीं रहता, तब जो होना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है। करने से रहित और होने से असंगता आ जाने पर साधक को 'है' की प्राप्ति होती है।

'है' के नाते 'नहीं' को अपना माना जा सकता है, किन्तु अचाह होकर। चाह-रहित हुए विना 'नहीं' में 'है'—बद्धि का नाश नहीं होता। जब तक 'नहीं' में 'है'–बुद्धि का नाश नहीं होता, तब तक 'है' में अविचल आस्था नहीं होती और आस्था के बिना श्रद्धा तथा विश्वास की अभिव्यक्ति नहीं होती और श्रद्धा, विश्वास के बिना आत्मीयता सजीव नहीं होती। आत्मीयता के बिना अखण्ड स्मृति सम्भव नहीं है। अचाह होने से 'है' में आस्था और सृष्टि के प्रति उदारता आ जाती है। जो 'है' उसकी प्रियता और सृष्टि के प्रति उदारता रस-रूप है, अर्थात् साधक का जीवन रस से परिपूर्ण हो जाता है। उदारता से प्रियता और प्रियता से उदारता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए चाह रहित होना अनिवार्य है। जिसे कुछ भी चाहिये वह उदार तथा प्रेमी नहीं हो सकता और बिना उदार तथा प्रेमी हुए रस की अभिव्यक्ति नहीं होती।

सृष्टि तथा सृष्टि के प्रकाशक से साधक का अविभाज्य सम्बन्ध है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक को अपने लिए कुछ नहीं चाहिये। अचाह होने के लिए ही साधक को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। यह सभी साधकों का अनुभव है कि सभी कामनाएँ विश्व के इतिहास में कभी किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुईं। इस विधान से भी निष्काम होने की ही प्रेरणा मिलती है। निष्काम होने पर ही साधक को शान्ति, स्वाधीनता, उदारता एवं प्रियता की प्राप्ति होती है। शान्ति सामर्थ्य की जननी है। स्वाधीनता में अमरत्व निहित है। उदारता सर्वात्मभाव को पोषित करती है और प्रियता नित-नव-रस का स्रोत है।

सृष्टि और सृष्टि के प्रकाशक से अविभाज्य सम्बन्ध की विस्मृति न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-द्वेष की निवृत्ति तथा स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति अपने आप हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है। अपने सुख अर्थात् कामना-पूर्ति के लिए सृष्टि और उसके प्रकाशक को स्वीकार किया जाय तो सृष्टि और उसके प्रकाशक से भिन्नता हो जाती है, एकता नहीं रहती। एकता के बिना, समता और उदारता की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण निष्काम होकर ही सर्वात्मभाव तथा अनन्त से जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता होती है, जो योग-बोध-प्रेम में हेतु है। योग में शक्ति, बोध में मुक्ति और प्रेम में भक्ति निहित है। इनमें स्वरूप से भिन्नता नहीं है, केवल रस का भेद है। योग में शान्त रस, बोध में अखण्ड रस और प्रेम में अनन्त रस है। रस की उपलब्धि के बिना नीरसता का सर्वांश में नाश नहीं होता और उसके बिना हुए साधक

आप्तकाम तथा आत्माराम नहीं होता एवं प्रेम-तत्त्व से अभिन्नता भी नहीं होती, जो साध्य का स्वभाव तथा साधक का जीवन है।

साधक, साधन-तत्व और साध्य में सत्ता साध्य ही की है। जब साधक के प्रमाद से उत्पन्न हुआ असाधन नहीं रहता, तब साधक में ही साधन-तत्व की अभिव्यक्ति होती है, जो साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है। साधन-तत्व तथा साध्य से साधक तभी तक भिन्नता अनुभव करता है, जब तक वह भोग, मोह और आसक्ति से रहित नहीं होता। सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही अहंरूपी अणु नष्ट हो जाता है। जिसके होते ही स्वतः योग-बोध-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तव में साधन-तत्व है। साधन-तत्व की अभिव्यक्त के लिए साधक में उत्कट लालसा तथा नित-नव उत्साह की जागृति होनी चाहिए। साधक ज्यों-ज्यों साध्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उत्कट लालसा तथा नित-नव उत्साह की जागृति होती है। इस कारण साधक के लिए साध्य के महत्व को स्वीकार करना परम आवश्यक है। साध्य के महत्त्व को स्वीकार करते ही साधक की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के महत्त्व ने ही साधक को साध्य के महत्त्व से वंचित किया है। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन तथा विभाजन, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग एवं निर्विकल्प अवस्था आदि साधन-रूप भले ही हों, किन्तु इनका आश्रय लेना अहंरूपी अणु को जीवित रखना है, जो भेद तथा भिन्नता में हेतु है। भेद और भिन्नता का अन्त हुए बिना परिच्छिन्नता का सर्वांश में नाश नहीं होता

और न निर्भयता, समता, मुदिता की अभिव्यक्ति ही होती है। इस कारण परिच्छिन्नता का अन्त करने के लिए अहंरूपी अणु का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता से ही साध्य है।

· ·

जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, अर्थात् वह अप्रयत्न हो जाता है। जिसके होते ही साधक में स्वतः उदारता, समता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। उदारता अर्थात् सर्वात्म-भाव आ जाने पर निर्वासना, निर्वैरता तथा निर्भयता अपने आप आ जातो है, जो विकास का मूल है। समता से ही सब दुःखों की निवृत्ति तथा अमरत्व की प्राप्ति होती है और प्रियता से अहम्-रूपी अणु शेष नहीं रहता; क्योंकि प्रेम जिसमें उदित होता है, उसे अपने से अभिन्न कर लेता है। अर्थात् प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति होने पर प्रेम से भिन्न प्रेमी का कोई आस्तित्व नहीं रहता और फिर प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य-विहार स्वतः होता रहता है; क्योंकि प्रेम और प्रेमास्पद दोनों ही अविनाशी हैं, अनन्त हैं, अनुपम हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक योग से प्राप्त चिर-शान्ति और बोध से प्राप्त जीवनमुक्ति को ही अपना लक्ष्य नहीं मानता। यद्यपि चिर-शान्ति तथा जीवन-मुक्ति के बिना प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, परन्तु उनमें सन्तुष्ट हो जाना अहम्-रूपी अणु को जीवित रखना है। चिर-शान्ति बोध में और बोध प्रेम में विलीन हो जाता है। इन तीनों में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जैसे बृक्ष, फल तथा रस में एकता है। उसी प्रकार चिर-शान्ति बोध और प्रेम में एकता है।

शान्ति में रमण न करने तथा बोध में सन्तुष्ट न होने पर स्वतः प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं योग में ज्ञान और ज्ञान में प्रेम ओत-प्रोत है।

अहं-रूपी अणु में समस्त विश्व और अनन्त में अहम् विद्यमान है। स्वतन्त्र सत्ता उसी की है, जो अनन्त है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी आत्मीयता साधन-रूप है और जो अहम् में है उसके प्रति सर्वात्मभाव साधन-रूप है। सर्वात्मभाव स्वीकार करने पर उदारता तथा निष्कामता सुदृढ़ होतो है, जिसके होते ही कोई और नहीं है, यह बोध हो जाता है। सभी अपने हैं, अर्थात् विश्व और विश्वनाथ अपने ही हैं—इस दृष्टि से अनन्त में आत्मोयता और विश्व में सर्वात्मभाव स्वीकार करना सफलता की कुञ्जी है।

१७

अहंरूपी अणु में समस्त विश्व और अनन्त में अहं विद्यमान है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है उस अनन्त की आत्मीयता साधन-रूप है और जो अहम् में है उस विश्व के प्रति सर्वात्म-भाव साधन-रूप है। काम की निवृत्ति में साधक के प्रयास की परावधि है। समस्त प्रवृत्ति का मूलाधार विश्राम है। विश्राम के सम्पादन के लिए इस तथ्य को स्वीकार करना आवश्यक है कि इच्छाओं की उत्पत्ति नवीन कर्म नहीं है, अपितु भूतकालिक प्रवृत्तियों का संस्कार है। इस दृष्टि से इच्छाओं का समर्थन न किया जाय तो भुक्त-अभुक्त का प्रभाव मिटकर सहज विश्राम मिलता है।

•

अपनेपन का भास मानव-मात्र का अपना सत्य है। किन्तु जब मानव अपने में प्रतीत होने वाले जगत् की आवश्यकता का अनुभव करता है तब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा किसी-न-किसी रुचिकर प्रवृत्ति को अपनाता है। यद्यपि प्रवृत्ति के परिणाम में उसे किसी अस्ति-तत्व की प्राप्ति नहीं होती, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है और अन्त में विवश होकर अपने आप आने वाली निवृत्ति को कुछ काल के लिए स्वीकार करता है, अर्थात् निवृति के बिना किसी प्रकार

भी रह नहीं सकता । प्रवृत्ति-जनित क्रियाओं में जीवन-बुद्धि स्वीकर करने से निवृत्ति-काल में भी प्रवृत्ति की रुचि शेष रहती है और मानव प्रवृत्ति के परिणाम को भूल जाता है। उसका यह भयंकर परिणाम होता है कि बार-बार प्रवृत्ति का आह्वान करता है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का व्यय अपने सुख के लिये करता रहता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। इस तथ्य का मानव अपने द्वारा अपने में अनुभव कर सकता है। अभाव-काल में भी दृश्य का चिन्तन होने लगता है, जो उसे स्वभाव से प्रिय नहीं है। उस अपने आप होने वाले चिन्तन को मिटाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के चिन्तनों को वह आरम्भ करता है किन्तु किसी भी चिन्तन से चिन्तन का सर्वांश में नाश नहीं होता। जिस प्रकार बाह्य प्रवृत्ति से असमर्थता का अनुभव कर प्रवृत्ति की रुचि को रखते हुए विवश होकर वह निवृत्ति को अपनाता है, उसी प्रकार वह बल-पूर्वक किये हुए चिन्तन के द्वारा होने वाले चिन्तन का नाश न होने पर भी, चिन्तन से चिन्तन को दबाता रहता है और अन्त में व्यर्थ चिन्तन से मुक्त न होने वाली दशा में आबद्ध होता रहता है। इस वस्तु-स्थिति का अनुभव प्रायः उन सभी साधकों को होता है जिन्होंने चिन्तन द्वारा बल-पूर्वक व्यर्थ चिन्तन को मिटाने का प्रयास किया है। चिन्तन से चिन्तन दबता है, मिटता नहीं। इतना ही नहीं, कालान्तर में किये हुए चिन्तन का भी चिन्तन होने लगता है। जिसका चिन्तन किया था, उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता ज्यों-की-त्यों शेष रहती है, यद्यपि उसका चिन्तन दृश्य के चिन्तन की अपेक्षा कहीं अधिक सुखद प्रतीत होता है। इतना नहीं, भविष्य में उसकी उपलब्धि की आशा रहती है, जिसका उसने बल-पूर्वक चिन्तन किया है।

प्राकृतिक नियमानुसार बल का उपयोग एकमात्र शरीर, परिवार, समाज, संसार आदि की सेवा में ही किया जा सकता है। उसके द्वारा अविनाशी जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती, किन्तु इस रहस्य पर साधक-समाज विचार न करके बलपूर्वक अर्थात् परिश्रम तथा पराश्रय के द्वारा विद्यमान अविनाशी जीवन को प्राप्त करना चाहता है और परिणाम में असफलता ही पाता है। विद्यमान अविनाशी जीवन में बिना ही श्रम के अविचल आस्था की जा सकती है। अपने में जिसकी मांग है उसमें आस्था करना सहज तथा स्वाभाविक है। अपनी आस्था में विकल्प न करने से आस्था सजीव होती है। ज्यों-ज्यों आस्था सजीव होती जाती है, त्यों-त्यों बाह्य दृश्य का प्रभाव स्वतः मिटता जाता है। दृश्य के प्रभाव से ही अपने में दृश्य का चिन्तन होता है, जिसके मिटाने के लिए साधक बलपूर्वक अन्य चिन्तन करता है। यदि बाह्य दृश्य की भाँति अपने में होनेवाले चिन्तन से भी असहयोग कर लिया जाय तो साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपनी आस्था में अपने को सन्तुष्ट कर सकता है और फिर सदा के लिये व्यर्थ चिन्तन से रहित हो सकता है।

आस्था उसमें होती है जिसका अस्तित्व है और अनेक इच्छाओं के मूल में मांग भी उसी की होती है, जो विद्यमान परम तत्त्व है। मांग की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति प्रत्येक साधक को अभीष्ट है। यदि साधक अस्ति-तत्त्व में आस्था करे तो उसकी उपलब्धि होती है, किन्तु प्रतीत होने वाले दृश्य को पसन्द करने से तो बेचारा व्यर्थ चिन्तन ही में आबद्ध रहता है और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के आवर्तन चक्र में फंसा रहता है, जो किसी भी मानव को कभी भी अभीष्ट नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के पाश में आबद्ध मानव न तो सन्देह-रहित ही होता है और न

स्थिति ही पाता है। इतना ही नहीं, जिसका अस्तित्व है उसकी विस्मृति हो जाती है, जिसके होते ही बेचारा प्राणी लोभ, मोह आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है और समता, स्वाधीनता एवं प्रियता से विमुख होकर भयंकर दुःख पाता है।

सर्व दुःखों की निवृत्ति तथा नित-नव रस की उपलब्धि मानव की वास्तविक मांग है। वास्तविक मांग की पूर्ति और काम की निवृत्ति हो सकती है। इस वास्तविक जीवन से निराश होना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वास्तविक मांग की जागृति काम-निवृत्ति का अचूक उपाय है। सर्वांश में काम की निवृत्ति होने पर मांग की पूर्ति होती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से काम की निवृत्ति में ही साधक के प्रयास की परावधि है, जो एकमात्र मांग की जागृति से ही साध्य है।

प्रवृत्तियों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले चिन्तन का साधक को स्पष्ट दर्शन होता है। किन्तु बेचारा साधक उससे भयभीत हो जाता है और उसके मिटाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का श्रम-साध्य उपाय अपनाता है। पराश्रय के बिना परिश्रम हो ही नहीं सकता। पराश्रय को अपनाकर कोई भी मानव विद्यमान अस्ति-तत्व को प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा अवस्थाओं में ही भ्रमण करता रहता है, अर्थात् वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के चिन्तन में ही सुखी-दुःखी होता रहता है। सुख-दुःख से अतीत जो अपने में उसका अपना जीवन है, उसकी विस्मृति हो जाती है।

जीवन उसे नहीं कहते जो सदैव तथा सर्वत्र न हो। सदैव होने से जीवन अभी है और सर्वत्र होने से अपने में है। अपने ही में अपना जीवन-धन है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना

प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य है। अपने में अपना जीवन है, इसकी विस्मृति से ही मानव ने अपने को शरीर और संसार में आबद्ध किया है। शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। कोई भी मानव शरीर को संसार की सीमा से वाहर नहीं ले जा सकता। हां, शान्ति के सम्पादन से विचार का उदय होने पर अपने को शरीर से असंग कर सकता है। असंग होते ही समस्त दृश्य से असहयोग करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

समस्त प्रवृत्तियों का मूल आधार विश्राम है। समस्त श्रम विश्राम से ही उत्पन्न होता है और विश्राम में ही विलीन होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव आवश्यक कार्य को पूरा कर अनावश्यक संकल्पों से असहयोग कर क्षोभ-रहित हो जाय। संकल्पों की उत्पत्तिमात्र से क्षुब्ध हो जाना अपने अस्तित्व को भूल जाना है। अपने में अपने अविनाशी जीवन की उपलब्धि की सामर्थ्य स्वतःसिद्ध है, अर्थात् परिश्रम तथा पराश्रय से रहित होकर अपने ही द्वारा अपने जीवन को प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से सामर्थ्य तथा ज्ञान-विरोधी संकल्पों का त्याग आवश्यक है, किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब उत्पन्न हुए संकल्पों से भयभीत न हों, बल्कि उनके अस्तित्व को ही न स्वीकार करें। जो केवल प्रवृत्तियों का प्रभाव-मात्र है, उससे भयभीत हो जाना अपनी विद्यमान सामर्थ्य को खोना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि निस्संकल्पता आवश्यक नहीं है। निस्संकल्पता के बिना तो आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव ही नहीं होता। निस्संकल्प होने के लिये उत्पन्न होने वाले संकल्पों

से तादात्म्य नहीं रखना चाहिये। जिन संकल्पों से तादात्म्य नहीं रहता वे स्वयं ही निर्जीव होकर नष्ट हो जाते हैं और फिर साधक अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित होकर उस वास्तविक जीवन की ओर स्वतः गतिशील होता है, जो समस्त विश्व का उद्गम है। अपने उद्गम में विलीन होना ही अपने अभीष्ट को प्राप्त करना है।

अनेक इच्छाओं के मूल में जो मांग है उसकी विस्मृति से इच्छाओं में जीवन मालूम होता है। वास्तव में तो जीवन अपनी मांग में है, इच्छाओं में नहीं। अनेक बार इच्छाओं की पूर्ति होने पर भी अभाव का भाव नहीं होता, अपितु इच्छाओं की उत्पत्ति होती रहती है और परिणाम में इच्छाओं की अपूर्ति का दुःख ही भोगना पड़ता है। इच्छाओं की पूर्ति से जो सुख का भास होता है वह वास्तव में अस्तित्वहीन है। अस्तित्वहीन को पसंद करना भारी भूल है। इच्छाओं की अपूर्ति की व्यथा जब असह्य हो जाती है, तब इच्छाएँ अपने आप मिटने लगती हैं और फिर स्वाभाविक मांग स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। जिसके होते ही इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं और जो सामर्थ्य इच्छाओं की उत्पत्ति और पूर्ति में व्यय होती थी, वह संचित होकर मांग में सन्निहित हो जाती है। जिसके होते ही मांग स्वतः सबल तथा स्थायी हो जाती है। मांग के सबल होने पर काम का नाश हो जाता है। जिसके होते ही मांग की पूर्ति होती है और फिर सदा के लिए सर्व-दुःखों की निवृत्ति एवं नित-नवरस की अभिव्यक्ति हो जाती है, जो मानव के विकास की चरम सीमा है।

इच्छाओं की उत्पत्ति भूतकाल की प्रवृत्तियों का परिचय-मात्र है। जिन विषयों में प्रवृत्ति नहीं हुई उनकी

इच्छा नहीं होती। इस दृष्टि से इच्छाओं की उत्पत्ति नवीन कर्म नहीं है, अपितु भूतकालिक भोग-प्रवृत्तियों का संस्कार है। यदि उन संस्कारों का समर्थन न किया जाय तो भुक्त-अभुक्त का प्रभाव स्वतः मिट जाता है और फिर काम का नाश तथा मांग की पूर्ति हो जाती है। अतः काम का नाश तथा मांग की जागृति ही सफलता की कुन्जी है।

१८

शान्ति साधक को स्वाधीनता से अभिन्न करती है और सुख-भोग उसे शान्ति से विमुख करता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति के लालच का त्याग अनिवार्य है। संकल्प-रहित होने पर शान्ति-सम्पादन स्वाभाविक है। शान्ति की उपलब्धि में सभी साधक सर्वदा समर्थ हैं, क्योंकि विश्राम से ही शान्ति का सम्पादन होता है और विश्राम स्वतःसिद्ध तथ्य है। विश्राम-काल में साधक का सम्बन्ध अपने आप अविनाशी तत्व से हो जाता है।

●

शान्ति साधक को स्वाधीनता से अभिन्न करती है और सुख का प्रलोभन मानव को पराधीनता में आबद्ध करता है। इतना ही नहीं, सुख का केवल भास होता है, उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। सुख के भोगी को पराश्रय तथा परिश्रम का आश्रय लेना ही होता है। पराश्रय का त्याग प्राकृतिक विधान के अनुसार स्वतः होता है। केवल उसका प्रलोभन ही अपने में रह जाता है, जो दुःख को जन्म देता है। श्रमित होने से प्राप्त शक्ति का व्यय ही होता है और अन्त में असमर्थता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से पराश्रय तथा परिश्रम का परिणाम अपने

लिए हितकर नहीं होता। एकमात्र पर-सेवा में ही पराश्रय तथा परिश्रम का सदुपयोग हो सकता है। अपने लिए लेशमात्र भी पराश्रय तथा परिश्रम की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि अपने में अपना जीवन विद्यमान है, जिसकी अभिव्यक्ति एकमात्र शान्ति के सम्पादन से ही होती है। इस कारण साधक को सुख के प्रलोभन से रहित होकर शान्ति का सम्पादन करना अनिवार्य है। यद्यपि शान्ति स्वतःसिद्ध तथ्य है, उसके लिए किसी प्रयास की अपेक्षा नहीं है—प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और अन्त में सभी साधकों के जीवन में शान्ति रहती ही है, परन्तु शान्ति के महत्व को स्वीकार न करने के कारण साधक उससे विमुख हो जाता है। सब प्रकार की सामर्थ्य का प्रादुर्भाव शान्ति में ही होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने शान्ति के लिए विचारपूर्वक सुख को अस्वीकार किया है।

सुख-भोग का संकल्प साधक को शान्ति से विमुख कर देता है। यदि अपने सुख के लिए पराश्रय तथा परिश्रम का उपयोग न किया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वतः शान्ति का सम्पादन हो जाता है। जगत् और जगत्पति से अपने सुख की माँग न की जाय, अपितु जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के प्रति प्रेम को अपनाया जाय, तो स्वतः शान्ति, समता और स्वाधीनता की प्राप्ति हो जाती है। शान्ति में सामर्थ्य, समता में सर्व दुःखों की निवृत्ति, स्वाधीनता में अमरत्व एवं प्रेम में अनन्त रस निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को शान्ति, समता, स्वाधीनता एवं प्रियता की आवश्यकता का अनुभव करना अनिवार्य है। शान्ति के बिना किसी भी प्रकार समता का, समता के बिना स्वाधीनता का तथा स्वाधीनता के बिना

प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस दृष्टि से शान्ति सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। शान्ति की माँग सुख के प्रलोभन से रहित कर साधक को शान्ति से अभिन्न कर देती है। जिसकी प्राप्ति आवश्यकता अनुभव करने मात्र से होती है, जो सभी साधकों को सभी परिस्थितियों में सुलभ है। इस कारण शान्ति-सम्पादन के लिए किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है, अपितु विचारपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का उपयोग ही अपेक्षित है; क्योंकि कर्तव्यपरायणता योग-विज्ञान का पूर्व-पक्ष है। कर्तव्य-निष्ठ साधक योग-युक्त हो जाता है और योग-युक्त होने पर ही शान्ति सुरक्षित रहती है। योग-युक्त होने पर जिज्ञासु साधक आत्मवित् और प्रभु-विश्वासी ब्रह्मवित् हो जाता है। इतना ही नहीं, योग-युक्त होने पर कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी स्वतः होती है। इस दृष्टि से सभी साधकों के लिए शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है।

शान्ति के सम्पादन से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अपने आप हो जाती है और निस्संकल्पता आ जाती है। जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब साधक जगत् और जगत्पति दोनों ही के लिए उपयोगी हो जाता है। संकल्प-विकल्प में आबद्ध मानव न तो अपने ही लिए उपयोगी होता है, और न जगत् तथा जगत्पति के लिए, अर्थात् सभी के लिए अनुपयोगी हो जाता है। इस कारण संकल्प-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र शान्ति के सम्पादन से ही साध्य है।

शन्ति की उपलब्धि में सभी साधक सर्वदा समर्थ हैं, क्योंकि विश्राम से ही शान्ति का सम्पादन होता है। विश्राम स्वतः सिद्ध

तथ्य है। समस्त श्रमों का उद्गम विश्राम में है और समस्त श्रम विश्राम में ही विलीन होते हैं। इतना ही नहीं, विश्रामकाल में साधक का सम्बन्ध अपने आप अविनाशी तत्त्व से हो जाता है अविनाशी तत्त्व सभी में सदैव मौजूद है, क्योंकि वह उत्पत्ति-विनाश के विकार से रहित है अर्थात् अनुत्पन्न है। अविनाशी जीवन की मांग सभी साधकों की मांग है। अपने को बनाये रखना सभी को स्वभाव से प्रिय है, परन्तु मिले हुए शरीर आदि को अपना मानना भूल है। वह किसी का अपना नहीं हो सकता जो कभी हो और कभी न हो, तथा कहीं हो और कहीं न हो; अर्थात् अविनाशी सदैव है, सर्वत्र है और सभी का है। उसमें अविचल आस्था करना तथा उसकी खोज करना साधकों का सहज स्वभाव है। किन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन के कारण साधक अपने सहज स्वभाव को भूल जाता है और शान्ति को न अपना कर सुख की कामना करने लगता है। यह साधक की अपनी उत्पन्न की हुई भूल है, जिसे वह स्वतः मिटा सकता है; क्योंकि भूल के ज्ञान से ही साधक भूल-रहित हो जाता है। सुख-दु:ख के द्वन्द्व में आबद्ध हो जाने के कारण साधक अपनी भूल का अनुभव करने में अपने को असमर्थ पाता है, किन्तु शान्ति का सम्पादन होते ही स्वतः साधक अपनी भूल का अनुभव कर उससे रहित होने में समर्थ होता है। यह वैधानिक तथ्य है।

शुभाशुभ संकल्पों का द्वन्द्व तभी तक रहता है, जब तक साधक शान्ति को नहीं अपनाता। वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा अपने सुख का सम्पादन करना अशुभ संकल्पों को जन्म देता है, जिनका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वस्तु आदि के द्वारा पर-सेवा करने की सद्भावना से शुभ संकल्प उत्पन्न

होते हैं। किन्तु शान्ति के पुजारी को तो अशुभ संकल्पों का त्याग और निष्काम भाव से शुभ संकल्पों को यथाशक्ति पूरा कर संकल्प-रहित हो जाना है। जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब दूसरों के संकल्प से आवश्यक कार्य स्वत: होते रहते हैं। संकल्प-रहित होने से साधक की किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, अपितु सर्वतोमुखी विकास ही होता है। इतना ही नहीं, सर्व संकल्पों से रहित होते ही साधक में उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। उदारता, समता और प्रियता साध्य का सहज स्वभाव है और साधक का जीवन है। साधक का जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाता है, क्योंकि जगत् को उदारता, अपने को समता तथा जगत्पति को प्रियता अभीष्ट है। इतना ही नहीं, मानव का निर्माण भी मानव के रचयिता ने अपने सहज स्वभाव से ही किया है। इस कारण साधक में बीजरूप से उदारता, समता तथा प्रियता विद्यमान हैं। जो विद्यमान है उसी की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता, समता और प्रियता से ही साधक की जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है। किन्तु उनकी उपलब्धि तभी होती है, जब साधक उससे आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करे जिसका सहज स्वभाव उदारता, समता तथा प्रियता है। साधक को जो कुछ मिला है, उसी से उसकी प्राप्ति होती है, जिससे वह मिला है। जिससे सभी को सब कुछ मिला है, वही सभी का अपना है। पर साधक अपनी ही भूल से मिली हुई सामग्री को अपनी मान लेता है और उसे भूल जाता है जिसने उसे सब कुछ दिया है।

मिली हुई सामर्थ्य आदि को अपना मान लेने से ही काम-

नाओं का जन्म होता है। जिसे कुछ भी चाहिए, वह उससे विमुख हो जाता है जो उसका अपना है। अपने से विमुख होने पर ही मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है। अचाह होते ही साधक अपने में अपने प्रेमास्पद को पाता है। जिसे कुछ भी चाहिए, वह परमात्मा में जगत् को देखता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह जगत् में परमात्मा को पाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

कामना-पूर्ति में सभी सर्वदा पराधीन हैं, किन्तु अचाह होने में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक कामना-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख से अतीत जीवन की आवश्यकता अनुभव करता है। सुख की दासता और दुःख के भय के अतिरिक्त बन्धन कुछ नहीं है। अचाह होते ही सुख की दासता तथा दुःख का भय स्वतः सदा के लिए मिट जाता है और साधक स्वाधीन होकर उदारता तथा परम प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। साधक का भूतकाल चाहे जैसा बीता हो, वर्तमान परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, चाह-रहित होने पर वह उसी जीवन को पाता है, जो जीवन कभी भी किसी भी महामानव को मिला है। चाह-रहित होने की स्वाधीनता होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ वास्तविक जीवन की उपलब्धि के लिए समान अर्थ रखती हैं। अचाह होते ही साधक में प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है। इतना ही नहीं, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही साधक सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, आलौकिक, अद्वितीय, अनुपम, रसरूप तथा चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय

विधान है। विधान में अविचल आस्था तथा उसका अनुसरण प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा अनिवार्य है। विधान के आदर में ही मानव-जीवन का आदर है। विधान और जीवन में एकता ही विकास का मूल है। जीवन विधान और विधान जीवन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अचाह हो जाता है।

चाह-रहित होने पर साधक के जीवन में आलस्य तथा अकर्मण्यता की गन्ध भी नहीं रहती; क्योंकि अचाह होते ही प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग भी होने लगता है और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी स्वतः होती है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग के अतिरिक्त कर्तव्यपरायणता और कुछ नहीं है। इस कारण अचाह होने से अकर्मण्यता नहीं आती, अपितु सहजभाव से कर्तव्यपरायणता आ जाती है, किन्तु उसका अभिमान तथा फलासक्ति नहीं रहती। फलासक्ति तथा अभिमान-रहित कर्तव्य पालन ही वास्तविक कर्तव्यपरायणता है। फलासक्ति तथा अभिमान-रहित होने से असंगता अपने आप आ जाती है और असंगता आ जाने पर अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से अचाह होने पर साधक में कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं अभिन्नता की अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए एवं अभिन्नता से प्राप्त परमप्रेम जगत्-पति के लिए उपयोगी होता है। इस कारण प्रत्येक साधक को चाह-रहित होना अनिवार्य है। चाह-रहित होना ही सफलता की कुञ्जी है।

—x—

१९

वास्तविक आवश्यकता का अनुभव सर्वतोमुखी विकास का मूल है। काम और मांग के द्वन्द्व के कारण मानव, जो प्रतीत होता है उससे भेद और जो मौजूद है उससे दूरी मानने लगता है। भेद से ही इच्छाओं का जन्म होता है और दूरी मान लेने पर लालसा तथा जिज्ञासा होती है। काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

●

वास्तविक आवश्यकता का अनुभव सर्वतोमुखी विकास का मूल है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता। मांग और इच्छा में एक बड़ा भेद यह है कि मांग साधक को दृश्य से असंग करती है और इच्छाओं से दृश्य के साथ तादात्म्य हो जाता है; क्योंकि वास्तविक मांग की पूर्ति में कोई भी परिस्थिति समर्थ नहीं है। सभी को स्वभाव से अविनाशी जीवन की मांग है, जिसकी पूर्ति किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि से नहीं होती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मांग उसकी है जो अनुत्पन्न है, अर्थात् उत्पत्ति, विनाश आदि

विकारों से रहित है। जो अनुत्पन्न है, वह सदैव और सर्वत्र है। जो सदैव और सर्वत्र है वह अभी है और अपने में है। यदि साधक उससे ही जातीय, नित्य तथा आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर ले, तो वास्तविक मांग की पूर्ति हो सकती है। परन्तु साधक अपनी ही भूल से प्रतीत होने वाले दृश्य के साथ अपना भेदाभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, अर्थात् किसी को 'मैं' और किसी को 'मेरा' मान लेता है। उसी का यह परिणाम होता है कि साधक में दृश्य का आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् काम की उत्पत्ति हो जाती है।

काम और मांग के द्वन्द्व के कारण मानव, जो प्रतीत होता है उससे भेद और जो मौजूद है उससे दूरी मानने लगता है। भेद से ही इच्छाओं का जन्म होता है और दूरी मान लेने पर लालसा तथा जिज्ञासा होती है। काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति होती है। साधक जिज्ञासा और काम दोनों को अपने ही में पाता है। कामना-पूर्ति के प्रलोभन में आबद्ध हो जाने पर जिज्ञासा शिथिल हो जाती है। परन्तु जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं और कामना-पूर्ति के परिणाम में अभाव ही शेष रहता है, तब साधक में स्वभाव से जिज्ञासा तथा वास्तविक जीवन की लालसा सबल हो जाती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा तीव्र और लालसा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः नष्ट होती जाती हैं।

निष्कामता आ जाने पर साधक समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस दृष्टि से निष्कामता अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि दृश्य

का आकर्षण क्यों होता है? यह सभी को मान्य है कि शरीर और संसार का स्वरूप से विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है। इन्द्रियां अपने विषयों की द्रष्टा तथा बुद्धि की दृश्य हैं। बुद्धि सृष्टि की द्रष्टा, किन्तु साधक का दृश्य है। साधक बुद्धि-दृष्टि से ही मन, इन्द्रिय आदि तथा उनके विषयों को देखता है। किन्तु जब साधक में इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नहीं रहता और केवल बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव रह जाता है, तब मन में निर्विकल्पता आ जाती है और फिर बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही अनेकता में एकता भासित होती है और फिर जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार का उदय होता है। विचार का उदय, अविचार की निवृत्ति एवं जिज्ञासा की पूर्ति युगपत् है। किन्तु जब साधक बुद्धि के सम होने पर समता-जनित सुख में रमण करने लगता है, तब बुद्धि विवेकवती नहीं हो पाती। विवेकवती बुद्धि के बिना दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता और उसके बिना साधक अपने ही में अपने साध्य को नहीं पाता अर्थात् साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता का अनुभव करता है। यद्यपि साध्य उसे नहीं कहते जो नित्य प्राप्त नहीं है, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण साधक साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता मानता रहता है। इस कारण बुद्धि की समता से उत्पन्न सुख से भी अपने को असंग होना है।

दृश्य के आकर्षण अर्थात् कामरूपी भूमि में अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। उनमें से कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं और कुछ नहीं। कामना-पूर्ति-काल में क्रिया-जनित सुख अर्थात् इन्द्रिय-जन्य प्रवृत्ति का सुख तथा उसके पश्चात् संकल्प-पूर्ति का सुख प्राणी अनुभव करता है और फिर साधक उसी दशा में आ

जाता है जिसमें सकल्प-पूर्ति से पूर्व था। परिणाम में अभाव ही अभाव रहता है। अभाव की वेदना साधक को संकल्प-निवृत्ति की प्रेरणा देती है। ज्यों-ज्यों अभाव की व्यथा तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन मिटता जाता है। सर्वांश में संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से रहित होते ही निस्संकल्पता अपने-आप आ जाती है। संकल्प-निवृत्ति का सुख संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान है, परन्तु उसमें रमण करने से भी दृश्य का तादात्म्य नहीं टूटता, अर्थात् देहाभिमान शेष रहता है। निर्विकल्प स्थिति में साधक की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव भी होता है। किन्तु रुचि-पूर्ति भी वास्तविक मांग की पूर्ति में आवरण ही उत्पन्न करती है।

निर्विकल्प स्थिति कल्पतरु के समान है। सजग साधक जिज्ञासा-पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति के बिना अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता। सन्देह-रहित होने पर देहाभिमान की निवृत्ति होती है अर्थात् साधक अपने में सन्तुष्ट होता है और फिर उसे अपने लिये किसी भी दृश्य की अपेक्षा नहीं रहती अर्थात् वह अपने को स्वाधीन अनुभव करता है। वह पराधीनता की पीड़ा से रहित हो जाता है और फिर स्वभाव से ही उसमें जगत् के प्रति उदारता उदित होती है और हृदय करुणा से भर जाता है। उस जीवन से प्राणिमात्र अभय होता है। इतना ही नहीं, साधकों को चेतना और प्राणियों को सुखानुभूति होने लगती है। सृष्टि उस स्वाधीन जीवन की आवश्यकता अनुभव करती है, क्योंकि स्वाधीन जीवन से किसी की क्षति नहीं होती, अपितु हित ही होता है। पराधीन प्राणी से ही पर-पीड़ा होती है।

स्वाधीन जीवन से किसी को पीड़ा नहीं होती और स्वाधीनता स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। इस दृष्टि से स्वाधीन जीवन का बड़ा ही महत्व है। स्वाधीनता प्राप्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है, किन्तु स्वाधीनता में ही पूर्णता का अनुभव करना अपने को जगत्पति के प्रेम से वंचित रखना है। जगत् के प्रति उदारता और प्रभु के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर ही पूर्णता होती है, किन्तु स्वाधीनता के बिना उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से स्वाधीनता उत्कृष्ट तत्व है, किन्तु उसके आश्रित अहं-रूपी अणु को जीवित नहीं रखना चाहिए। अहं-रूपी अणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से विभु है, समस्त विश्व उसके किसी अंशमात्र में है। किन्तु जो सूक्ष्मतम है और उस अहम् में भी है, उसकी प्रियता के बिना अहं की अनन्त से अभिन्नता नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है।

वास्तविक जीवन की मांग साधक में सुख-भोग की रुचि को जीवित नहीं रहने देती। इस कारण साधक को क्रिया-जनित, चिन्तन-जनित तथा स्थिरता-जनित सुख से असंग रह कर स्वाधीन होना है। और यदि स्वाधीन होकर भी सन्तुष्ट न हो, तो उदारता और प्रेम की अभिव्यक्ति अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है।

उपर्युक्त सुखों का महत्व उसी समय तक रहता है जब तक वे उपलब्ध नहीं हैं। ज्यों-ज्यों उनकी उपलब्धि होती जाती है, त्यों-त्यों उनसे उपरति भी होती जाती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अहं यद्यपि अत्यन्त प्रिय तत्त्व है, किन्तु अनन्त

की अभिन्नता के लिए अहं-तत्त्व के मोह से रहित होना अनि-वार्य है। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है जिन्होंने अपना लक्ष्य सभी के लिए उपयोगी होना स्वीकार किया है।

उदारता से जीवन जगत् के लिए और स्वाधीनता से अपने लिए एवं प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति से जीवन जगत्पति के लिए उपयोगी होता है। वास्तविक उदारता, स्वाधीनता एवं परम-प्रेम साध्य का ही स्वभाव है। साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न होकर साध्य को पाता है। इस कारण उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता की मांग ही वास्तविक मांग है। वास्तविक मांग की जागृति के बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। यह कैसा अनुपम विधान है कि मांग की जागृति में मानव स्वाधीन है, पराधीन नहीं। सुख-लोलुपता के कारण अहं-रूपी अणु को जीवित रखना भारी भूल है। पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा सुख का भोग करना अपने को अपनी मांग से विमुख करना है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। पराश्रय तथा परिश्रम का उपयोग पर-सेवा में किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए तो साधक को परिश्रम तथा पराश्रय से रहित होना अनिवार्य है। वास्त-विक जीवन से दूरी, भेद, भिन्नता एकमात्र पराश्रय से ही प्रतीत होती हैं। पराश्रय का त्याग सुख-लोलुपता के नाश से ही संभव है। यह कैसा अनुपम विधान है कि सुख-लोलुपता के नाश के लिए सुख-लोलुप के जीवन में दुःख अपने आप आता है। दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन का नाश कर दुःखी को सदा के लिए दुःख से रहित कर देता है। इस दृष्टि से सुख-

लोलुपता से रहित होना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक जीवन की मांग ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों पराश्रय से प्राप्त होने वाले सुख का प्रलोभन स्वतः मिटता जाता है। वास्तविक मांग की पूर्ति होती है। उससे निराश होना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; अपितु साधक के जीवन में मांग की पूर्ति के लिए नित-नव उत्साह तथा तत्परता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहनी चाहिए। वास्तविक मांग की जागृति ही सफलता की कुञ्जी है।

२०

स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होती है। अतः अहंता-परिवर्तन ही विकास का मूल है। अपने को साधक स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि पराधीनता, नीरसता तथा अभाव असह्य हो जाय। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीन होने की सामर्थ्य स्वतः आती है। जिसे पराधीनता नहीं भाती, वह साधक शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, अपितु विवेकपूर्वक निर्भय होकर निष्काम हो जाता है। निर्ममता में निर्विकारता और निष्कामता में शान्ति निहित है।

उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी का स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। अनुत्पन्न तत्व से सभी की आत्मीयता हो सकती है। जिससे आत्मीयता होती है उसके महत्व को स्वीकार करते ही उससे अपनत्व होता है और फिर अखण्ड स्मृतिः जागृत होती है, जो अभाव का अभाव करने में समर्थ है।

●

प्रत्येक मानव साधक है। उसे साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है। साधन-निष्ठ जीवन

से किसी का अहित नहीं होता, अपितु वह सभी के लिए सर्वदा हितकर ही होता है। साधन-निष्ठ होने के लिये अपने को साधक स्वीकार करना अनिवार्य है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से अहंता-परिवर्तन ही विकास का मूल है। जब मानव अपने को साधक स्वीकार करता है, तब वह अपनी माँग तथा दायित्व को निज-विवेक के प्रकाश में जानने का प्रयास करता है। अपनी मांग का अनुभव अपने को हो सकता है। माँग का अनुभव होते ही दायित्व का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। माँग उसे नहीं कहते जिसकी पूर्ति न हो, और दायित्व वह नहीं है जिसे साधक पूरा न कर सके; अर्थात् दायित्व पूरा किया जा सकता है और माँग पूरी होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निष्ठ होने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। साधक के जीवन में असफलता के लिये कोई स्थान ही नहीं है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक इस वास्तविकता को स्वीकार करे कि पराधीनता, नीरसता तथा अभाव का अन्त करना अनिवार्य है। जिसे पराधीनता, नीरसता तथा अभाव सहन होता है, उसकी साधक-संज्ञा नहीं हो सकती। अपने को साधक स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि पराधीनता, नीरसता तथा अभाव असह्य हो जाय।

जब साधक पराधीनता की वेदना से पीड़ित हो जाता है, तब उसमें स्वाधीन होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है—यह मंगलमय विधान है। पराधीनता तभी तक जीवित रहती है, जब तक वह असह्य नहीं होती। पराधीनता को सहन करना घोर प्रमाद है। जिसे पराधीनता नहीं भाती वह साधक शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, अपितु विवेकपूर्वक निर्मम होकर निष्काम हो जाता है। निर्ममता में निर्विकारता

और निष्कामता में शान्ति निहित है। प्रत्येक साधक के लिए निर्विकारता तथा शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र निज-ज्ञान के प्रभाव से सभी साधकों के लिए साध्य है। जिसकी उपलब्धि ज्ञान से सिद्ध है, उसके लिए किसी प्रकार की पराधीनता तथा परिश्रम अपेक्षित नहीं है। पराश्रय तथा परिश्रम के बिना जिसकी प्राप्ति होती है, उसके लिए देश-काल भी अपेक्षित नहीं है। अतः निज-ज्ञान के प्रभाव को अपनाकर साधक जब चाहे तब निर्विकारता तथा शान्ति का सम्पादन कर सकता है; क्योंकि निज-ज्ञान के अनादर से साधक ने स्वयं विकारों तथा अशान्ति को जन्म दिया है। जिसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। निवृत्ति उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण भूलरहित होने मात्र से ही अशान्ति तथा विकारों की निवृत्ति हो जाती है और फिर स्वतः निर्विकारता तथा शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति उसी की होती है जो स्वतः सिद्ध है। साधक का प्रयास अशान्ति तथा विकारों की निवृत्ति-मात्र में है। जो स्वतः सिद्ध है उसका साधक को अभिमान नहीं करना चाहिए; क्योंकि गुणों का अभिमान विकारों का मूल है। निर्दोषता नित्य-तत्त्व है। नित्य-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, उसका अभिमान नहीं होता, यह वैधानिक तथ्य है। निर्विकारता आने पर ही निर्भयता और शान्ति से सामर्थ्य प्राप्त होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग जगत् के लिए और निर्भयता अपने लिए हितकर होती है। भयभीत प्राणी ही दूसरों को भयभीत करता है। जो अभय हो जाता है वह किसी को भयभीत नहीं करता। जो किसी को भय नहीं देता है उसकी माँग सभी को होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को अभय होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्विकारता से ही साध्य है।

जिसपर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, उसको अपना मानना भूल है। इस भूल का अन्त होते ही निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता स्वतः आती है और फिर साधक अभय हो जाता है। किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी का स्वतन्त्र अधिकार नहीं है और अनुत्पन्न तत्व से सभी साधकों की आत्मीयता हो सकती है; क्योंकि वह सदैव, सर्वत्र और सभी का है। जो सभी का है वही अपना है। अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता है। जिसका कोई प्रिय है उसके जीवन में नीरसता नहीं रहती। नीरसता का नाश होते ही काम स्वतः नष्ट हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। ज्ञानपूर्वक ममता का नाश और अनुत्पन्न तत्व में आस्था स्वीकार करने से आत्मीयता होती है। ममता का नाश होने पर स्वाधीनता और आत्मीयता से प्रियता प्राप्त होती है। स्वाधीनता में अविनाशी जीवन और प्रियता में नितनव रस स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को अविनाशी तथा रसरूप जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञान, बल तथा आस्था प्रत्येक साधक में विद्यमान है। ज्ञान साधक को प्राप्त बल के दुरुपयोग की प्रेरणा नहीं देता, अपितु बल के सदुपयोग का ही समर्थन करता है। इतना ही नहीं, बल का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। बल का सदुपयोग करने पर सुन्दर समाज का निर्माण तथा पारस्परिक एकता होती है तथा उत्तरोत्तर बल की वृद्धि ही होती रहती है। इस कारण बल का सदुपयोग करना अनिवार्य है। बल के दुरुपयोग से मानव स्वयं निर्बल हो जाता है और पारस्परिक संघर्ष तथा भेद और भिन्नता का जन्म होता है, जो विनाश का मूल है। बल का दुरुपयोग न करने का निर्णय निज-ज्ञान से सिद्ध है। जो निज-ज्ञान से सिद्ध है, वह स्वतः सिद्ध है;

उसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इस कारण किसी भी दशा में बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। बल अपने लिए नहीं है, अपितु विश्वरूपी वाटिका की सेवा के लिए है। बल के द्वारा कोई भी अविनाशी स्वाधीन, रसरूप जीवन को प्राप्त नहीं कर सकता, जो साधक की अपनी मांग है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि बल अपने लिए नहीं है। जो अपने लिए नहीं है, उसका दुरुपयोग करना भारी भूल है। बल के दुरुपयोग में सभी का अहित ही होता है। बल मानव को किसी के द्वारा मिला है। मिले हुए को अपना तथा अपने लिए मानना युक्तियुक्त नहीं है। मिले हुए के द्वारा सेवा करनी है। सेवा का अन्त त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में होने से वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

साधक ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता सुगमतापूर्वक प्राप्त कर, सकता है। इस दृष्टि से ज्ञान अपने लिए है। जो अपने लिए है उसका अनादर नहीं करना चाहिए। ज्ञान के अनादर से ही साधक ने अपने में असाधन को जन्म दिया है। असाधन कोई प्राकृतिक वस्तु नहीं है। इस कारण ज्ञान के अनादर से असा-धन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन और जीवन में भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। यदि ज्ञान का आदर किये बिना ही बल-पूर्वक साधन किया जाय, तो साधन और असाधन का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो विनाश का मूल है; क्योंकि साधन का मिथ्या अभिमान हो जाता है और असाधन की निवृत्ति नहीं होती। असाधन की

निवृत्ति के बिना साधक साधन-निष्ठ नहीं हो सकता । निज-ज्ञान के आदर से असाधन तथा अकर्तव्य की निवृत्ति अपने आप हो जाती है और फिर स्वतः कर्तव्यपरायणता तथा साधन-निष्ठा सजीव हो जाती है। जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है; जो जानने में आता है वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान सभी का प्रकाशक है, किसी का नाशक नहीं है। ज्ञान के आदर से अज्ञान अर्थात् अल्प-ज्ञान का नाश होता है, जिसके होते ही इन्द्रियदृष्टि का प्रभाव नष्ट हो जाता है और साधक राग-रहित हो जाता है, जो योग तथा बोध में हेतु है। योग में शक्ति और बोध में मुक्ति निहित है। इस कारण प्रत्येक साधक को निज-ज्ञान का आदर करना अनिवार्य है।

आस्था उसी में की जाती है जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है, जिसे भक्तों से सुना है और जिसकी मांग अपने में है। अपने को अपना चाहिए। यह साधक की स्वाभाविक मांग है। जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि से देखा है वह अपना नहीं है। जो अपना है उसे देखा नहीं। जिसे देखा नहीं उसके अस्तित्व तथा महत्व को स्वीकार करना है। साधक जिसके अस्तित्व तथा महत्व को स्वीकार कर लेता है उससे अपनत्व अपने आप हो जाता है। जिससे अपनत्व हो जाता है उसकी अखण्ड स्मृति स्वतः जागृत होती है, जिसके होते ही अन्य की विस्मृति तथा अपने में अपने की प्रियता और प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को अपने साध्य में विकल्प-रहित आस्था करनी अनिवार्य है। आस्थावान साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक पराधीनता, अभाव एवं नीरसता से रहित हो जाता है और स्वाधीनता, पूर्णता एवं रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है। आस्था उसी में होती है जो सदैव है। जो

सदैव है उसी से नित्य योग होता है,जो बोध में हेतु है। इस दृष्टि से योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है । साधक को साधन-निष्ठ होने के लिए विकल्प-रहित आस्था, ज्ञान का आदर तथा बल का सदुपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है । अतः ज्ञान का अनादर, बल का दुरुपयोग तथा आस्था में विकल्प न करना सफलता की कुञ्जी है ।

२१

रुचि की निवृत्ति के बिना जिज्ञासा की पूर्ति एवं निस्स-न्देहता के बिना रसरूप जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही साधक में ही साधन तत्व की अभिव्यक्ति होती है और फिर साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। मांग की शिथिलिता ही दूरी, भेद, भिन्नता में हेतु है।

जीवन अविनाशी है। उसका कभी नाश नहीं होता, केवल विस्मृति होती है; जो साध्य की स्मृति से स्वतः मिट जाती है। अखण्ड स्मृति साधक में उदित होती है। अखण्ड स्मृति से सृष्टि में आस्था नहीं रहती, अपितु साध्य की आस्था ही रह जाती है, जो कि साधक का सर्वस्व है। अतः साध्य को स्वीकार करना ही साध्य की शरणागति है और साध्य की शरणागति ही सफलता की कुञ्जी है।

●

मानव के व्यक्तित्व में अनेक बार भोगे हुए विषयों की रुचि, वास्तविकता की जिज्ञासा एवं रसरूप जीवन की लालसा विद्य-मान है। रुचि की निवृत्ति के बिना जिज्ञासा की पूर्ति एवं निस्सः-

न्देहता के बिना रस-रूप जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस वैधानिक तथ्य को स्वीकार करने से रुचि-निवृत्ति का प्रश्न जीवन का मुख्य प्रश्न हो जाता है। रुचि-पूर्ति का प्रलोभन मानव को पराधीन, श्रमित और शक्तिहीन बनाता है, जो किसी भी सजग मानव को अभीष्ट नहीं है। सभी को स्वाधीनता, सामर्थ्य तथा सरसता की माँग है, जिसकी पूर्ति साधननिष्ठ होने से हो सकती है। साधन-निष्ठ होने के लिए प्रत्येक साधक की अपने साध्य में अविचल आस्था होनी अनिवार्य है। साध्य .की उपलब्धि होती है, यह वैधानिक तथ्य है। ज्यों-ज्यों साध्य की माँग सबल होती जाती है, त्यों-त्यों साधक में रुचि-निवृत्ति की सामर्थ्य अपने आप आती जाती है। यह अनन्त का विधान है। साधक को प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करना है। सामर्थ्य किसी साधक की व्यक्तिगत नहीं है, साधन-निष्ठ होने के लिए साध्य से स्वतः प्राप्त होती है। साध्य की अप्राप्ति साधक को असह्य हो जाय—बस, यही साधक का मूल प्रयास है। साध्य की प्राप्ति में साधक को जो असमर्थता प्रतीत होती है,उसका एकमात्र कारण यही है कि साध्य की मांग सबल तथा स्थायी नहीं है। माँग की पूर्ति वर्तमान का प्रश्न है; क्योंकि माँग उसी की है जो अविनाशी है, अर्थात् विद्यमान है। विद्यमान जीवन से जो दूरी, भेद तथा भिन्नता प्रतीत होती है वह केवल इसलिए कि साध्य की अप्राप्ति असह्य नहीं है। माँग की शिथिलता ही दूरी, भेद और भिन्नता में हेतु है।

माँग की पूर्ति में विकल्प करना ही साधक का प्रमाद है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि साध्य की उप-लब्धि किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित होती, तब वह प्रत्येक साधक के लिए सम्भव न होती। किन्तु साध्य अद्वितीय है और

उसकी उपलब्धि मानव-मात्र, अर्थात् प्रत्येक साधक को हो सकती है। रुचि दो व्यक्तियों की भी सर्वांश में समान नहीं होती, किन्तु वास्तविक माँग तो मानव-मात्र की एक है। रुचि, परिस्थिति, सामर्थ्य, योग्यता आदि में भेद है, किन्तु वास्तविक माँग में कोई भेद नहीं है। परिस्थिति आदि के भेद के कारण साध्य की उपलब्धि नहीं हो सकती—यह धारणा भ्रमात्मक है, जिसका अन्त करना अनिवार्य है। परिस्थिति-भेद प्राकृतिक तथ्य है और सृष्टि की शोभा है। वास्तविक जीवन सभी परिस्थितियों से अतीत है। परिस्थिति व्यक्तिगत साधन-सामग्री है, और कुछ नहीं। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है। यदि यह प्राप्त न होती तो परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उपलब्धि ही नहीं होती।

साधन-सामग्री साध्य नहीं है, अपितु साध्य की प्राप्ति में साधन रूप है। साधन-सामग्री में भेद होने पर भी साध्य में एकता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि साधक में साधन-तत्व तथा साध्य विद्यमान हैं, किन्तु रुचि-पूर्ति के प्रलोभन के कारण साधक में साधन-तत्व की अभि-व्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साध्य से दूरी, भेद तथा भिन्नता प्रतीत होती है। साध्य की माँग ही रुचि के नाश में हेतु है। रुचि मानव को पराधीनता की ओर और माँग स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है; अर्थात रुचि से विवश होकर मानव सतत् परिवर्तनशील दृश्य की ओर प्रवृत्त होता है और माँग उसे दृश्य से विमुख कर अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। रुचि-पूर्ति का प्रलोभन प्रमाद है और वास्तविक जीवन की माँग सजगता है। सजगता से प्रमाद

की निवृत्ति होती है; क्योंकि चेतना से ही साधक भूल-रहित होता है। वास्तविकता की जिज्ञासा सुदृढ़ होने पर सजगता सजीव होती है, जो साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही साधक में ही साधन-तत्व की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधन-तत्व से भिन्न साधक का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। साधन-तत्व की अभिव्यक्ति होने पर साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती।

दृश्य की आस्था ने साध्य की आस्था को शिथिल किया है। यद्यपि साध्य की माँग साधक में विद्यमान है, परन्तु दृश्य की आस्था ने माँग को शिथिल और रुचि को बलवती कर दिया है। रुचि चाहे कितनी बलवती क्यों न हो जाय, मांग नष्ट नहीं होती। मांग का आधार अविनाशी जीवन है और रुचि परिवर्तनशील दृश्य से पोषित होती है। यदि रुचि का आधार अविनाशी होता, तो रुचि-पूर्ति होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती और अभाव का अभाव हो जाता। पर ऐसा नहीं होता। रुचि-पूर्ति रुचि को ही जन्म देती रहती है। रुचि के अनुरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है, किन्तु प्राप्ति कुछ नहीं होती; अर्थात् अभाव ही शेष रहता है, जो किसी भी साधक को अभीष्ट नहीं है। वास्तविकता की मांग रुचि को मिटाकर स्वतः सदा के लिये पूरी हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से साध्य की मांग ही साध्य की प्राप्ति में हेतु है। इस तथ्य को स्वीकार करते ही मांग सबल हो जाती है और रुचि का नाश हो जाता है, अर्थात् रुचि और मांग का द्वन्द्व शेष नहीं रहता। रुचि काष्ठ और मांग अग्नि है। काष्ठ में विद्यमान अग्नि जब प्रकट हो जाती है, तो काष्ठ को भस्मीभूत कर देती

है। उसी प्रकार मांग की जागृति रुचि का सदा के लिए अन्त कर देती है और फिर साध्य की मांग साध्य में विलीन हो जाती है, केवल साध्य तथा उसकी अगाध प्रियता ही शेष रहती है। साध्य की प्रियता साध्य के समान अविनाशी तथा अनन्त है। इतना ही नहीं, साध्य की प्रियता साध्य के लिये रसरूप है और साधक का जीवन है।

जीवन अविनाशी है। उसका कभी नाश नहीं होता। केवल विस्मृति होती है, जो साध्य की स्मृति से स्वतः मिट जाती है; अर्थात् विस्मृति का नाश ही जीवन की उपलब्धि में हेतु है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति से ही सम्भव है। अखण्ड स्मृति साधक में उदित होती है और उसके उदित होने से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषयों से विमुख होकर स्मृति में विलीन होते हैं, जिसके होते ही साधक में सृष्टि की आस्था नहीं रहती, अपितु साध्य की आस्था ही रह जाती है। साध्य की आस्था साधक का सर्वस्व है। साध्य की आस्था ही साधक को साध्य से अभिन्न करती है। यदि साधक साध्य की आवश्यकता की अनुभूति द्वारा अपने में से साध्य से भिन्न की आस्था को निकाल दे, तो बड़ी सुगमतापूर्वक साधक को साध्य की प्राप्ति हो जाती है।

साध्य से भिन्न की आस्था ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। साधक साध्य से विमुख होकर ही दृश्य की ओर प्रवृत्त होता है और अन्त में असमर्थता में आबद्ध हो जाता है। यद्यपि असमर्थता की वेदना सर्व-समर्थ की आस्था में हेतु है, परन्तु जो सदैव, सर्वत्र, सभी के लिए नहीं है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना वास्तविक आस्था से विमुख होना है। साध्य सदैव है, समर्थ है, अद्वितीय है और प्रत्येक साधक का अपना

है। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक होती है। साध्य की प्रियता समस्त आसक्तियों को मिटाकर साधक को साध्य से अभिन्न करती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक साध्य से भिन्न को स्वीकार न करे। साध्य से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि प्राप्ति उसकी होती है जो सदैव तथा सर्वत्र है। उसमें अविचल आस्था सर्वतोमुखी विकास का मूल है। प्रतीति स्वयं-प्रकाश्य नहीं है, जो स्वयं प्रकाश्य नहीं है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है उसकी उपलब्धि नहीं होती। प्रतीति का प्रकाशक, उत्पत्ति का आधार ही साधक का साध्य है। प्रतीति और उत्पत्ति साध्य नहीं है। जो साध्य नहीं है उसमें आस्था करना भारी भूल है। साध्य की आस्था ही साधक को साध्य से अभिन्न करती है। साध्य में आस्था करना साधक का स्वधर्म है। स्वधर्म का सम्पादन किसी पराश्रय के द्वारा नहीं होता। इस दृष्टि से साध्य की आस्था शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है, अपितु अपने ही द्वारा अपने साध्य में आस्था करना सम्भव है, अर्थात् प्रत्येक साधक स्वयं अपने साध्य में आस्था कर सकता है।

मानव प्रमाद-वश शरीरादि वस्तुओं की आस्था में अपने को आबद्ध कर लेता है, यह जानते हुए भी कि किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु की स्थिति नहीं है, केवल उत्पत्ति-विनाश का क्रम है। जिसकी स्थिति नहीं है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना, उसमें आस्था करना वास्तविक जीवन से वंचित होना है। अस्तित्वहीन की आस्था का नाश एकमात्र साध्य की आस्था से हो सकता है। जिसकी उपलब्धि आस्था से होती है, उसकी

प्राप्ति किसी अन्य उपाय से नहीं हो सकता। इस वास्तविकता को अपनाना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। आस्था तभी सजीव होती है, जब साधक साध्य के महत्व को अपनाकर साध्य में अपनत्व स्वीकार करे। अपनत्व से ही अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो रसरूप जीवन की प्राप्ति में हेतु है। साधक के लिए साध्य में आस्था-श्रद्धा-विश्वास आवश्यक है, जो अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध तथा चिन्तन के त्याग से ही सजीव होता है, जिसके होते ही साधक सब प्रकार से साध्य का हो जाता है। साध्य तो साधक को अपना जानता ही है, पर साधक को आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक साध्य को स्वीकार करना है। साध्य को स्वीकार करना ही साध्य की शरणागति में हेतु है। अतः साध्य की शरणागति ही सफलता की कुञ्जी है।

२२

'सुख के भोगी को दुःख भोगना पड़ता है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इस तथ्य को अपनाकर यदि व्यक्ति सुख-भोग की रुचि का त्याग कर दे तो अपने में ही चिन्मय, रसरूप जीवन को पाकर कृतकृत्य हो सकता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

'शरीर को बनाये रखने की स्वाधीनता किसी भी मानव को कभी भी प्राप्त नहीं है। पर शरीर के सदुपयोग की स्वाधीनता प्रत्येक मानव को है। शरीर को अपना न मानते हुए उसका सदुपयोग सर्वहितकारी कार्य में कर डालने पर साधक शरीर की दासता से मुक्त हो जाता है। यह जीवन का सत्य है।'

'निज ज्ञान का आदर एवं ईश्वर में अविचल आस्था स्वधर्म है। स्वधर्म-पालन 'स्व' से ही साध्य है। उसमें पराश्रय एवं परिश्रम का लेश-मात्र नहीं है। इस दृष्टि से निज ज्ञान के आदर से साधक असत् से सम्बन्ध-विच्छेद करने में, तथा

आस्था के आधार पर अनन्त परमात्मा से आत्मीयता स्वीकार करने में सर्वथा स्वाधीन है।' यह मानव-जीवन की मौलिक स्वाधीनता है।

जिस ज्ञान से ज्ञातव्य जाना जाता है वह ज्ञान तथा जिस आस्था से प्रेमास्पद से अभिन्नता होती है वह आस्था—दोनों ही अनुत्पन्न अविनाशी तत्व हैं, मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं। मस्तिष्क के द्वारा दृश्य के सम्बन्ध में ही खोज हो सकती है। 'मैं' की खोज में मस्तिष्क असमर्थ है, क्योंकि मस्तिष्क 'मैं' का करण है। करण से कार्य होता है, परन्तु करण से कारण को जाना नहीं जा सकता। मस्तिष्क हमें मिला हुआ है। मस्तिष्क जिसकी देन है, वह मस्तिष्क का विषय नहीं हो सकता। सृष्टि के लिए उपयोगी होने में मस्तिष्क सहायक हो सकता है, किन्तु सृष्टि के उद्गम की ओर गतिशील होने में तो साधक को मस्तिष्क से भी असंग होना पड़ता है। जीवन अपने में है। जो अपने में है उसे स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस वास्तविकता को अपनाना अनिवार्य है।

●

पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता साधक को साध्य से विमुख करती है। इतना ही नहीं, जिस सुख-लोलुपता की दासता में आबद्ध होकर साधक अपने में विद्यमान साध्य से अपने को विमुख कर लेता है, वह सुख भी अपने आप नष्ट हो परिणाम में भयंकर दुःख उत्पन्न कर जाता है। प्राकृतिक

नियमानुसार प्रत्येक सुख के भोगी को विवश होकर दुःख भोगना ही पड़ता है। इस वैधानिक तथ्य को अपनाकर यदि साधक सुख-भोग की रुचि को वास्तविक नित-नव-रस की आवश्यकता में विलीन कर दे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह अपने में ही अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो सकता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान मानव की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है जो अविनाशी है। इस कारण विधान में अविचल आस्था करना अनिवार्य है। प्रत्येक साधक में नित-नव-रस की माँग बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु मानव अपनी ही भूल से रस की माँग को शिथिल कर कामना-पूर्ति के सुख में अपने को बाँध लेता है, यह भली-भाँति जानते हुए भी कि अनेक बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी अभाव का अभाव नहीं हुआ और न नीरसता का ही नाश हुआ, अपितु अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो गये। भयभीत जीवन किसी भी प्राणी को कभी भी अभीष्ट नहीं है। मानव स्वभाव से ही अभय होने की आवश्यकता का अनुभव करता है, किन्तु पराधीनता को पसन्द करने से निर्भय हो नहीं पाता। यदि स्वाधीनता की माँग सबल हो जाय, तो पराधीनता स्वतः नष्ट हो जाती है।

स्वाधीनता उसे नहीं कहते जो किसी पराश्रय तथा परिश्रम द्वारा प्राप्त की जाय। वाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे, स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये मानव को मिले हुए शरीर की भी अपेक्षा नहीं है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने निज-ज्ञान के प्रकाश में विवेकवती बुद्धि द्वारा शरीर की वस्तुस्थिति का यथेष्ट अनुभव किया है। क्या कभी भी

शरीर संसार से अलग हो सकता है ? कदापि नहीं। शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। शरीर संसार-रूपी वाटिका की खाद हो सकता है, और उसके काम आ सकता है, जो संसार और शरीर का मालिक है। शरीर के उपयोग की स्वाधीनता मानव को मिली है। उसको बनाये रखने की स्वाधीनता किसी भी मानव को कभी भी प्राप्त नहीं है। जिसके बनाये रखने की स्वाधीनता नहीं है, उसको अपना मानना और उसके द्वारा अपनी वास्तविक मांग की पूर्ति का प्रयास करना क्या भारी भूल नहीं है ? शरीर अपने लिए नहीं है। इस वास्तविकता को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। हाँ, शरीर के माध्यम से कामना-पूर्ति के सुख का सम्पादन होता है, किन्तु सभी कामनाओं की पूर्ति कभी भी किसी भी मानव की नहीं हुई और कुछ कामनाएँ प्रायः सभी की पूरी होती हैं। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति-अपूर्ति भी तो साधक को निष्काम होने की ही प्रेरणा देती है। निष्कामता साधक का अपना स्वधर्म है, अर्थात् प्रत्येक साधक स्वाधीनता-पूर्वक निष्काम हो सकता है। निष्काम होने के लिए शरीर आदि किसी भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसकी उपलब्धि किसी परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं रखती, उसकी प्राप्ति विवेक-पूर्वक प्रत्येक परिस्थिति में हो सकती है। इस दृष्टि से निष्काम होने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना भारी भूल ही है, और कुछ नहीं।

स्वधर्म-पालन 'स्व' से ही साध्य है। जो 'स्व' से साध्य है उसके लिए पराश्रय तथा परिश्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है।

'स्व' के द्वारा उसी की उपलब्धि होती है जो निज-ज्ञान तथा आस्था से साध्य हो। जो ज्ञान से साध्य है, उसके लिए किसी प्रमाण की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञान अविनाशी तत्त्व है। ज्ञान उसे नहीं कहते जो जानने में आता है, अपितु उसे कहते हैं जिससे जाना जाता है। जिससे जाना जाता है वह किसी मस्तिष्क की उपज नहीं है, अर्थात् ज्ञान कोई भौतिक तत्त्व नहीं है, अपितु अनुत्पन्न अविनाशी तत्व है। जिज्ञासओं ने अविनाशी तत्व की खोज की है और उससे अभिन्न होकर जिज्ञासा की पूर्ति का आनन्द प्राप्त किया है। वैधानिक दृष्टि से कामना की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होती है। जिज्ञासा-पूर्ति में विकल्प करना मानव की अपनी असावधानी, अर्थात् जड़ता है और कुछ नहीं। जिज्ञासा की तीव्र जागृति होने पर जड़ता स्वतः नष्ट हो जाती है। सन्देह-रहित होने की उत्कट लालसा से जिज्ञासा तीव्र होती है। निस्सन्देहता की माँग मानव की स्वाभाविक माँग है। स्वाभाविक माँग में विकल्प करना साधक की अपनी ही उत्पन्न की हुई भूल है। भूल कोई प्राकृतिक तथ्य नहीं है। जो निज-ज्ञान से सिद्ध है, उसे स्वीकार न करना ही भूल है। भूल-रहित होने का दायित्व अपने पर है, किसी और पर नहीं। भूल मिटाने की सामर्थ्य मानव को स्वतःप्राप्त है। इस कारण भूल-रहित होने के लिए सर्वदा सजग रहना आवश्यक है।

स्वाधीनता के लिए किसी देश-काल, वस्तु-व्यक्ति आदि की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वस्तु आदि से मानव का नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसके

द्वारा स्वाधीनता सम्भव नहीं है। नित्य सम्वन्ध उसी से हो सकता है जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी में है और सभी का है; और ऐसा होने से अद्वितीय है, समर्थ है। उसमें अविचल आस्था भी 'स्व' से ही साध्य है। मस्तिष्क के द्वारा जो-जो तथ्य सिद्ध होते हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है। मस्तिष्क के आधार पर कोई भी निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता, उसमें प्रगति एवं परिवर्तन होता ही रहता है; क्योंकि मस्तिष्क के द्वारा दृश्य के सम्बन्ध में ही खोज हो सकती है। दृश्य 'मैं' का विषय है। इस दृष्टि से मस्तिष्क भी मानव का एक करण-मात्र है और कुछ नहीं। मस्तिष्क का ज्ञान स्वयं मस्तिष्क को नहीं है। मस्तिष्क के द्वारा अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए, किन्तु किसी भी विज्ञानवेत्ता ने मस्तिष्क का आविष्कार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि मस्तिष्क मिला है। मिली हुई वस्तु से नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। मस्तिष्क जिसकी देन है, वह मस्तिष्क का विषय नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, मस्तिष्क के द्वारा तो उसे भी नहीं जाना जाता जिससे मस्तिष्क मिला है; अर्थात् मस्तिष्क के द्वारा कोई भी अपने को अनुभव नहीं करता, अपितु अपने द्वारा मस्तिष्क का उपयोग करता है। सृष्टि के लिए उपयोगी होने में मस्तिष्क सहायक हो सकता है, किन्तु सृष्टि के उदग्म की ओर गतिशील होने में तो साधक को मस्तिष्क से भी असंग होना पड़ता है। मस्तिष्क से असंग होते ही साधक अपने ही द्वारा अपने में वास्तविक जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अपने में अपना जीवन है। जो अपने में है उसे स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस वास्तविकता को अपनाना अनिवार्य है।

मानव के व्यक्तित्व में भूल-जनित काम और स्वभाव-जनित नित-नव-रस की माँग मौजूद है। जिसकी उत्पत्ति भूल-जनित है उसकी निवृत्ति होती है। इस कारण काम की निवृत्ति होती है, अर्थात् प्रत्येक साधक निष्काम हो सकता है। मिले हुए शरीर आदि को अपना मान लेने पर अनेक विकार उत्पन्न होते हैं और ममता दृढ़ होने पर काम का जन्म होता है। मिला हुआ अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु मिले हुए का सदुपयोग विश्व-रूपी वाटिका की सेवा में हो सकता है। अपने को जो चाहिए वह अपने में है। जो अपने में है वह किसी श्रम से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम से ही साध्य है। विश्राम के लिए किसी भी मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है। मिले हुए का उपयोग सुख-भोग में करना विश्राम में बाधक है। जिसका उपयोग सेवा में करना चाहिये था उसका उपयोग रुचि-पूर्ति में करना अपने को पराधीनता में आबद्ध करना है। पराधीनता में आबद्ध प्राणी न तो स्वाधीन हो सकता है, न उदार और न प्रेमी। जो स्वाधीन नहीं हो सकता वह अमरत्व से अभिन्न नहीं हो सकता। पराधीन प्राणी सदैव मृत्यु के भय से भयभीत रहता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है, और उदारता के बिना जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता, अर्थात् जो उदार नहीं है उसकी माँग संसार को नहीं है। जिसकी माँग संसार को नहीं है, वह संसार के लिए अनुपयोगी है। जो संसार के लिए अनुपयोगी हो जाता है, वही संसार के चितन में फँसा रहता है। जो संसार के लिए उपयोगी हो जाता है, वह संसार के

चिंतन से रहित होकर अपने में संतुष्ट हो जाता है। उसी में प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति होने पर ही जीवन नित-नव-रस से भरपूर होता है। नीरसता सदा के लिए नष्ट हो जाती है। नीरसता का नाश होते ही काम का अत्यन्त अभाव हो जाता है और फिर वास्तविक माँग स्वतः पूरी हो जाती है। अतः स्वाधीनता का सम्पादन ही सफलता की कुञ्जी है।

२३

साधन और साधन-तत्व में बड़ा अन्तर यह है कि साधन व्यक्तिगत होता है, साधन-तत्व सभी का एक है। साधन-तत्व है अपने साध्य की अगाध, अनन्त और नित नव प्रियता। प्रियता के बिना सभी साधन निर्जीव हैं। साधक के जीवन में मूल्य प्रियता का है। प्रियता उदित होती है जातीय एकता, स्वरूप की एकता एवं आत्मीय सम्बन्ध से और सुरक्षित होती है अचाह होने से। प्रियता से शून्य साधन भारस्वरूप बन जाता है। वह साधन नहीं असाधन है। अतः प्रियता का उदित होना एवं सुरक्षित रहना साध्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

●

समस्त साधनों की अभिव्यक्ति अपने जाने हुए असत् के त्याग और सत् के संग में ही निहित है। अतः अपने जाने हुए असत् के त्यागमात्र से साधन का निर्माण बड़ी सुगमतापूर्वक हो सकता है। यदि जाने हुए का प्रभाव हो जाय, तो साधन-निर्माण में कोई कठिनाई न हो, अपितु स्वाभाविकता आ जाय। स्वाभाविकता का अर्थ यह है कि उसमें प्रियता हो जाय और उसके बिना हम किसी प्रकार न रह सकें। किन्तु सबसे बड़ा दुःख इस बात का है कि अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर

नहीं रहता। इस निर्बलता का नाश होने पर बड़ी ही सुगमता-पूर्वक प्रत्येक साधक अपने साधन का निर्माण कर सकता है। साधन-निर्माण होते ही साधन में तत्परता आती है और जैसे-जैसे वह तत्परता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही साधक का अस्तित्व साधन में विलीन होता जाता है। जैसे-जैसे साधक का अस्तित्व साधन में विलीन होता जाता है, वैसे-ही-वैसे साधक की साध्य से अभिन्नता होती जाती है। जिस समय साधक का अस्तित्व सर्वांश में साध्य में विलीन हो जाता है, उसी समय अनेक साधन एक ही साधन-तत्व में विलीन हो जाते हैं।

साधन और साधन-तत्व में बड़ा अन्तर है। साधन व्यक्तिगत होता है और साधन-तत्व सभी का एक है। साधन-तत्व है अपने साध्य की अगाध, अनन्त और नित-नव प्रियता। यह प्रश्न नहीं है कि आपका साध्य क्या है। प्रश्न यह है कि आपकी अपने साध्य में प्रियता है या नहीं। जीवन में मूल्य प्रियता का है। संसार में जितने बड़े लोग हुए हैं, उन सबमें किसी की प्रियता का दर्शन होता है—चाहे मीरा होकर गिरिधर की प्रियता हो, चाहे कबीर होकर निर्विशेष तत्व की प्रियता हो, चाहे जिज्ञासु होकर तत्त्व में प्रियता हो, चाहे भक्त होकर भगवान में प्रियता हो, व्यक्ति होकर समाज में प्रियता हो या शरीर होकर विश्व में प्रियता हो।

प्रियता किसी वस्तु के द्वारा प्राप्त नहीं होती, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा प्राप्त नहीं होती और यह भी कहने में कोई संकोच नहीं लगता कि प्रियता किसी अभ्यास के द्वारा भी प्राप्त नहीं होती। यदि वस्तु के द्वारा प्रियता प्राप्त होती, तो प्रियता आज अमरीका में कैद दिखाई देती। यदि बल के द्वारा वह प्राप्त

हो सकती, तो रूस में कैद होती। किन्तु इन सब बातों से प्रियता नहीं मिलती। प्रियता का वास्तविक मूल्य है आत्मीयता, अपनापन। जहाँ अपनापन हो जाता है, वहीं प्रियता का उदय होता है। और अपनापन सुरक्षित होता है चाह-रहित होने से, जो अपने पास है उसे दे डालने से। अपनापन सुरक्षित होता है नित्य सम्बन्ध से और जातीय एकता से।

जातीय एकता का अर्थ यह नहीं है कि हम ब्राह्मण हैं, तो ब्राह्मण से हमारी जातीय एकता होगई। असली अर्थ में हमारी जातीय एकता उससे ही हो सकती है कि जिसके और हमारे बीच स्वरूप की भिन्नता न हो पाये। उदाहरण के लिए यदि किसी से पूछा जाय कि क्या आप वही हैं जो पचीस वर्ष पूर्व थे, तो वह कहेगा--"जी, मैं वही हूँ।" विचार करें, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन हुआ शरीर में, परिस्थिति में, भावनाओं में, विचारों में, प्रवृत्तियों में। तो जिसमें परिवर्तन हुआ वह उसकी जाति का नहीं है जिसमें परिवर्तन नहीं हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि हम और हमारे शरीर में जातीय एकता नहीं है; हमारी हमारे प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से जातीय एकता नहीं है। संसार में जो कुछ इन्द्रियों के ज्ञान से या बुद्धि के ज्ञान से देखने में आता है, उसमें भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसमें परिवर्तन न हो, अतः उससे भी हमारी जातीय एकता नहीं है। इस दृष्टि से संसार से हमारी जातीय एकता नहीं है, उससे हमारी मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता के नाते हमारे पास जो कुछ संसार की वस्तु है, उसे उसी को भेंट करना है, उसको आदर-पूर्वक उसकी सेवा में लगा देना है। अतः मानी हुई एकता से कर्तव्य का जन्म हुआ है।

आज हम कुटुम्बी जनों से ममता करेंगे, सेवा नहीं करेंगे। जिनके साथ हम रहते हैं, जो हमारे साथ रहते हैं, उनसे ममता रक्खेंगे, पर उनकी सेवा नहीं करेंगे, उलटे उनसे सुख की आशा करते हैं। सेवा तो तब करें जब स्वयं सुख की आशा न करें ! सुख की आशा और ममता—बस, यही असाधन हैं। असाधन कहीं बाहर से नहीं आता, हम स्वयं अपने आप अपने जीवन में असाधन को जन्म देते हैं। जिनसे मानी हुई एकता है, जातीय एकता नहीं है, उनकी सेवा करने में हिचकते हैं, उनको आदर देने में हिचकते हैं, प्यार देने में हिचकते हैं, किन्तु उनसे सुख की आशा करने में नहीं हिचकते, उनसे ममता करने में नहीं हिचकते। अगर ये साधन हैं, तो फिर असाधन क्या है ?

अगर आप यह कहें कि जब सुख की आशा और ममता असाधन हैं, तो फिर यदि हमसे कोई सुख की आशा करता है, तो क्यों हम उसे पूरी करें ? विचार कीजिए, आपसे कोई सुख की आशा नहीं करता, वह आशा करता है अपनी दी हुई वस्तु की। संसार ने आपको शरीर-रूपी वस्तु दी है, योग्यता दी है, सामर्थ्य दी है; ज्ञान, विज्ञान और कला दी है। उसने दिया है आपको इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, बुद्धि-जन्य ज्ञान, वस्तुओं के उपयोग वाला विज्ञान और कला, जो दैनिक जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह सब संसार की देन है। जो संसार की देन है, उसके द्वारा संसार की पूजा करदो। जैसे कोई गंगाजल से गंगा की पूजा करदे, तो उसका क्या खर्च होता है ? संसार की दी हुई वस्तु के द्वारा यदि हम संसार की सेवा नहीं कर सकते, तो इससे बढ़कर और कोई बेईमानी तो हो नहीं सकती और इससे बढ़कर और कोई सुगम साधन भी नहीं हो सकता कि किसी की दी हुई वस्तु से हम उसकी पूजा करदें।

बहुत से लोग विनोद में कह देते हैं कि अभी कौन सी जरूरत है साधन करने की, कुछ वर्षों के बाद देखा जायगा, अभी तो भाई आनन्द करने दो। सोचने की बात है कि बिना साधन के आपको आनन्द कैसे मिलेगा ! भाई, जीवन का कोई कार्य असाधन रूप से किया हुआ सुखद भी नहीं होता, शान्ति देने वाला भी नहीं होता और सद्गति देने वाला भी नहीं होता। तो यह तो आपकी रुचि की बात है कि आप क्या पसन्द करें। यदि शान्ति की परवाह न कर आप सुख में सन्तुष्ट हो जायं या सद्गति की परवाह न कर शान्ति में सन्तुष्ट हो जायं, तो यह मूर्खता की बात होगी; किन्तु वास्तव में जीवन का कोई भी क्षण साधन-रहित नहीं होना चाहिए। बिना साधन के कुछ नहीं मिल सकता। साधन जीवन है, जीवन साधन है। जीवन और साधन में विभाजन नहीं हो सकता।

जगत् की दी हुई वस्तु आदर-पूर्वक, प्यार-पूर्वक ईमानदारी से विधिवत् जगत् को दे देना साधन है। विधिवत् इसलिए देना है कि यदि हम विधिवत् नहीं देंगे, तो रोगी का भोजन स्वस्थ को दे देंगे और स्वस्थ का भोजन रोगी को, दोनों बरबाद हो जायँगे। आज अपनी अयोग्य सन्तान के लिए लाखों रुपये जमा कर दिये जाते हैं और पड़ोसी की योग्य सन्तान के लिए ध्यान ही नहीं दिया जाता ! रोगी होने पर भी स्वयं मक्खन खा जाते हैं और अपने स्वस्थ सम्बन्धी और स्वस्थ साथी को कुछ भी नहीं देते ! भाई, यह विधि का दोष है। इसलिए सेवा में विधि का बहुत बड़ा स्थान है।

विधि का अर्थ है कि अहितकर प्रवृत्ति न हो, अपितु हितकर हो। साधन का यह अर्थ कभी नहीं है कि हम वह करें जो

हमारे जीवन से अलग हो सके। जागना-सोना, उठना-बैठना, खाना-पीना, मिलना-जुलना आदि जितनी प्रवृत्तियाँ जीवन में हैं, उनमें से कोई प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जो साधन-युक्त न हो। साधनरूप प्रवृत्ति की कसौटी यह है कि जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली हो और दूसरों के लिए हितकर हो। जो प्रवृत्ति अपने लिए प्रसन्नता देने वाली न हो और दूसरों के लिए हितकर न हो, वह असाधन है। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती हैं जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली होती हैं, पर दूसरों के लिए अहितकर नहीं होती। ऐसी प्रवृत्तियाँ भी साधन के अन्तर्गत आ सकती हैं, किन्तु जो प्रवृत्तियाँ अपने लिए सुखद हों और दूसरों के लिए दुःखद हों, वे कभी साधन-युक्त नहीं हो सकतीं। जो सुख किसी का दुःख बनकर आता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है और जो दुःख किसी के हित के लिए आता है, वह हमें आनन्द से अभिन्न कर देता है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई ! साधन बोझा नहीं है। आज साधक को यह मालूम होता है कि जैसे कोई आदमी रोटी खाकर निश्चिन्त होकर उठता है, वैसे ही जब वह ध्यान से उठता है, तो उसे विश्राम मिलता है; अर्थात् जब वह ध्यान में था, तब उसे विश्राम नहीं था। तो क्या यह भी साधन है कि ध्यान-काल में विश्राम न मिले ? वह भी क्या चिन्तन है कि जो चिन्तन-काल में विश्राम का हेतु न बने और चिन्तन समाप्त होने पर विश्राम मिले ? इस प्रकार की साधन-प्रणाली जो हमारे आपके जीवन में है, वह साधन के नाम पर असाधन का दोष है। इसलिए भाई, साधन का अर्थ यह कभी भी नहीं है कि साधन हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर न हो। अत्यन्त

रुचिकर नहीं होगा, तो उसमें हमारा पूरा जीवन लगेगा नहीं। और साधन उसे कहते भी नहीं जिसमें पूरा जीवन न लग जाय। ऐसा साधन हमें तभी प्राप्त होगा, जब हम अपने जाने हुए असत्य का त्याग करने में सर्वदा तत्पर रहेंगे और जाने हुए असत्य का त्याग करने में तत्पर तभी रहेंगे, जब अपने जाने हुए का प्रभाव जीवन में होगा।

२४
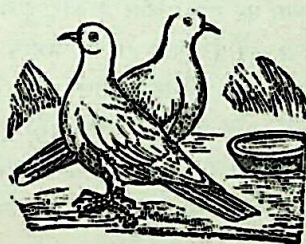
जाने हुए का प्रभाव जीवन पर क्यों नहीं होता ? हम जानते हैं कि भोग की प्रवृत्ति में सुख और परिणाम में दुःख है। जो सुखद क्रिया पर दृष्टि रखता है और दुःखद परिणाम पर ध्यान नहीं देता उस पर जाने हुए का प्रभाव नहीं होता। हमारा जाना हुआ है कि विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध एवं विश्वास से सब प्रकार के असाधन उत्पन्न होते हैं। असाधनों का नाश इस भूल को मिटाने से होगा, अन्यथा नहीं। अतः वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति का सम्बन्ध विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। इनके सहारे सत्य नहीं मिल सकता। विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग धीरे-धीरे नहीं होता है। सम्बन्ध के टुकड़े नहीं होते। सम्बन्ध जब टूटता है तो एक साथ टूटता है। विवेक-विरोधी सम्बन्ध एवं विश्वास के त्याग से जाने हुए का प्रभाव एवं मिले हुये का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यह बड़ा भारी सत्य है कि मिले हुये के सदुपयोग द्वारा ही जीवन जगत् के लिये उपयोगी होता है। तब जगत् उस जीवन की मांग करने लगता है, उस जीवन का जगत् अनुसरण करने लगता है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

●

जाने हुए असत् का त्याग करने से ही साधन-निर्माण होता है। ऐसा नहीं है कि हम नहीं जानते। जीवन में ऐसी बात भी नहीं है कि हम नहीं मानते। बहुत से लोग हैं जो प्रभु को मानते हैं। बहुत से लोग हैं जो संसार की वास्तविकता को जानते हैं। महत्व की बात यह है कि उस जाने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में; उस माने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में। यह बात बड़ी ही गम्भीरता से प्रत्येक साधक को देखनी चाहिये कि हम जो जानते हैं उसका प्रभाव जीवन पर क्यों नहीं होता। विचार करने से मालूम होता है कि जानने के दो अंग हैं — एक प्रवृत्ति के रूप को जानना, दूसरे प्रवृत्ति के परिणाम को जानना; जैसे भोजन करने में क्रियाजन्य सुख भी मिलता है और भोजन का परिणाम भी होता है। भोजन के परिणाम पर जिसकी दृष्टि होती है, वह भोजन के सम्बन्ध में ठीक जानता है। पर जिसकी दृष्टि भोजन के क्रियाजन्य सुख पर होती है, वह ठीक नहीं जानता। ठीक न जानने का अर्थ अधूरा जानना होता है। देखना, सुनना, बोलना, सोचना–समझना आदि भोग-प्रवृत्तियों में सुख भी होता है और दुःख भी। भोग-प्रवृत्तियों के उदय में सुख, पर परिणाम में दुःख होता है। भोग-प्रवृत्ति के सुखद अंग को ही जानना अधूरी जानकारी है।

हमारी सुखद प्रवृत्ति यदि किसी के लिए अहितकर है, तो हमें उसका त्याग करना चाहिए, क्योंकि कर्तव्य-विज्ञान का एक सुन्दर सिद्धान्त है कि हमारे द्वारा जो दूसरों को मिलेगा, वह कई गुना अधिक होकर हमें मिलेगा। यदि हमने सुख के प्रलोभन से किसी के साथ अहितकर प्रवृत्ति की, तो उससे उसका जितना अहित होगा, उसका कई गुना हमारा

अपना अहित होगा। पर आज हम कर्तव्य-विज्ञान को भूलकर उसका अनादर करने लगे। उसका परिणाम यह हुआ कि जो नहीं करना चाहिए, हम उसे करने लगे और जो हमें करना चाहिए वह कठिन मालूम होने लगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमें अपनी अधूरी जानकारी के आधार पर अपना सारा जीवन नहीं रखना चाहिये। जब हम अधूरी जानकारी के आधार पर अपना जीवन नहीं रखेंगे, तब वास्तविक जानकारी का प्रभाव होगा और जब उसका प्रभाव होगा, तो जीवन में असाधन रह ही नहीं सकता।

असाधन और कुछ नहीं, विवेक-विरोधी कर्म ही असाधन है, विवेक-विरोधी विश्वास ही असाधन है और विवेक-विरोधी सम्बन्ध ही असाधन है। अब सोचिये! जिससे हमारी जातीय भिन्नता है, उसमें ममता करना विवेक-विरोधी सम्बन्ध है; जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसमें विश्वास करना विवेक-विरोधी विश्वास है; जो अपने प्रति नहीं चाहते, उसी कार्य को दूसरे के प्रति करना विवेक विरोधी कर्म है। अब आप गम्भीरता से विचार करें, क्या असाधन के मूल कारण को हम नहीं जानते? क्या हम उसे नहीं मिटा सकते? अवश्य मिटा सकते हैं।

जरा ध्यान तो दें। क्या विवेक-विरोधी सम्बन्ध आप सुरक्षित रख सकते हैं? क्या विवेक-विरोधी विश्वास को आप सुरक्षित रख सकते हैं? क्या विवेक-विरोधी कर्म के आधार पर आप समाज में रह सकते हैं? कभी नहीं। हाँ, यह दूसरी बात है कि जीवन में कुछ भाग ऐसा भले ही बनाये रक्खें जो विवेक-विरोधी है, लेकिन कुछ भाग ऐसा भी रखना पड़ता है

जिसमें विवेक का विरोध नहीं है। इसी कारण आप देखेंगे कि कोई व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं होता, सभी के लिये दोषी नहीं होता और सदैव दोषी नहीं रहता। सर्वांश में, सभी के लिए और सदा के लिये दोषी होकर कोई रह ही नहीं सकता। इसलिए भाई ! विवेक-विरोधी कर्म से, विवेक-विरोधी विश्वास से, विवेक-विरोधी सम्बन्ध से काम चलेगा नहीं। उनका त्याग करना ही पड़ेगा।

हमें सिखाया जाता है कि विवेक-विरोधी कर्म मत करो। पर, यदि विवेक-विरोधी विश्वास या सम्बन्ध रहेगा, तो विवेक-विरोधी कर्म अवश्य बनेगा। इसलिए सबसे पहले विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विश्वास का नाश आवश्यक है। उनको बनाये रखने से असाधन का नाश होगा ही नहीं। जैसे शरीर की ममता विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। यदि वह बना रहा, तो घोर तप करने के बाद भी यदि किसी ने प्रणाम नहीं किया, तो उसका भी नाश कर बैठेंगे और अपना भी। इसलिये विवेक-विरोधी सम्बन्ध पहले छोड़ना है।

यदि हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग कर देते हैं, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह शरीर हमारा नहीं है, इन्द्रियाँ हमारी नहीं हैं; मन, बुद्धि और प्राण हमारे नहीं हैं, जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें हमारी नहीं हैं, तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हमारे नहीं हैं। इसके मानने का परिणाम बड़ा सुन्दर निकलेगा। यदि स्थूल शरीर की ममता छोड़ दी, तो कर्म की आसक्ति विदा हो जायगी। यदि सूक्ष्म शरीर की ममता छोड़ दी, तो चिन्तन की आसक्ति विदा हो जायगी। यदि कारण शरीर की ममता छोड़ दी, तो स्थिति की आसक्ति नहीं रहेगी। जब आसक्ति नहीं रहती, तो अनासक्ति आती है

और अनासक्ति अशुद्धि को खा जाती है। अशुद्धि का नाश हो जाने पर कर्म भी शुद्ध, चिन्तन भी शुद्ध और स्थिति से असंगता हो जाती है। फिर साधन वनने में क्या रह जाता है? और उसके लिये त्यागा क्या? केवल विवेक-विरोधी सम्बन्ध।

आज हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध नहीं त्यागते और गीता चाट जाते हैं, पर क्या उससे मोह का नाश होता है? हम कोठरी में बन्द होकर ताला लगवा देते हैं, गुफा में घुसकर हम ईश्वर को खरीदना चाहते हैं। इनसे क्या सिद्धि मिलेगी? कभी नहीं। हम धोखा देते हैं अपने को और दूसरों को। इससे सिद्धि नहीं मिलेगी। वह तो मिलेगी विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़ने से, जो उसी क्षण मोह का नाश कर देगा, और जिसके बिना साधन का आरम्भ ही नहीं हो सकता, चाहे गीता पढ़ें, चाहे समाधि लगावें।

यह भी नहीं हो सकता कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग धीरे-धीरे हो। सम्बन्ध के टुकड़े नहीं होते। सम्बन्ध जब टूटता है, तो एक साथ टूटता है। इसलिये निश्चय यह करना है कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़े विना दूसरे कार्य का आरंभ ही नहीं करेंगे। जरा विताओ तो सही चौबीस घण्टे इस कार्य के लिये! यदि लगातार चौवीस घण्टे लगाये होते आपने इस कार्य के लिये, तो आपकी वही दशा होती जो भगवान बुद्ध की हुई थी कि, यदि मुझे सत्य नहीं मिलेगा, तो मैं यहाँ से नहीं उठूँगा, दूसरे कार्य का आरम्भ नहीं करूँगा। आप देखिये, आपको सिद्धि होती है कि नहीं। अवश्य होगी।

हमको सिद्धि प्राप्त करनी है, तो सत् का संग करना ही होगा और विवेक-विरोधी सम्बन्ध असत् है, अतः उसका त्याग करना ही होगा। उसका त्याग करते ही जीवन में जाने हुए

का प्रभाव होगा और मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा। जाने हुए का प्रभाव हुए बिना मिले हुए का सदुपयोग हो ही नहीं सकता और जब तक मिले हुए का सदुपयोग नहीं होता तब तक जीवन जगत् के लिये उपयोगी नहीं हो सकता। यह बड़ा भारी सत्य है कि मिले हुए के सदुपयोग द्वारा ही जीवन जगत् के लिये उपयोगी होता है। और तब जगत् उस जीवन की मांग करने लगता है, उस जीवन का जगत् अनुसरण करने लगता है। इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है।

यदि कहें कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग तो बड़ा कठिन है, हमसे नहीं हो सकता। तो विचार करने पर मालूम होगा कि इससे सुलभ और साधन दुनियाँ में है ही नहीं। सोचो, जो हमारे बिना रह सकता है, जो बराबर हमारा त्याग कर रहा है, उससे सम्बन्ध बनाये रखना कठिन है या उसका त्याग? भाई, त्याग करने वाले के प्रति राग असंभव है, कठिन है, टिक नहीं सकता; परन्तु त्याग सुगम है, स्वाभाविक है। वस्तुयें तो हमारा त्याग कर ही रही हैं, यदि हमने भी उनका त्याग कर दिया, तो वे हमारी सराहना करेंगी। वे घबड़ाती हैं, बहुत दुःखी होती हैं संग्रह से, दुरुपयोग करने वाले से और उससे जो उनपर ममता का पत्थर रख देता है। वे प्रसन्न होती हैं उससे जो न उनसे ममता करता है, न उनका संग्रह करता है और न दुरुपयोग। उनकी प्रसन्नता की पहचान यह है कि फिर आपके लिए आवश्यक वस्तुयें अपने आप आने लगती हैं, जीवन से दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है। ………यदि हमारे जीवन से वस्तु-विश्वास निकल गया होता, वस्तु-सम्बन्ध टूट गया होता, वस्तु का हमने दुरुपयोग न किया होता, तो वस्तु तरसती सेवा में आने के लिए। लेकिन आज हम तरसते हैं वस्तु के

लिए। कोई वस्तु के सहयोग से तत्त्वज्ञान खरीदना चाहता है, कोई भगवान को प्राप्त करना चाहता है, कोई विश्व-कल्याण करना चाहता है; कदापि नहीं होगा। वस्तु की आशा लेकर आज तक किसी को सत्य मिला नहीं, मिलेगा नहीं; क्योंकि वस्तु का सम्बन्ध ही विवेक-विरोधी है। सत्य का संग क्या वस्तु की ममता से मिलेगा ? वस्तु के संग्रह से मिलेगा ? वस्तु के दुरुपयोग से मिलेगा ? नहीं, कभी नहीं।

जो वस्तु प्राप्त है, वह हमारी अपनी नहीं है। भौतिक दृष्टि से वह जगत् की है। अध्यात्म-दृष्टि से वह मायामात्र है। आस्तिक दृष्टि से वह प्यारे प्रभु की है। वस्तु किसी देश की नहीं है, पार्टी की नहीं है, कुटुम्बी-जनों की नहीं है; वह जगत् की है। आस्तिक दृष्टि से वह उसकी है जो जगत् का आधार है, जगत् का प्रकाशक है। दर्शन में चाहे जितना भेद हो, जीवन में कोई भेद नहीं हो सकता। भौतिकवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। ईश्वरवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। अध्यात्मवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। सोचो, जीवन में कुछ भेद हुआ ? दार्शनिक भेद होने से भेद नहीं होगा। जब हम जीवन की ओर गतिशील होंगे, उस समय हम सभी में प्रीति की एकता होगी, क्योंकि जीवन एक है। हमारे और दूसरों के बीच अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु प्रीति का भेद नहीं सहा जा सकता।

प्रीति की एकता को कोई तोड़ नहीं सकता। प्रीति करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है। आप हमको भले ही प्यार न करें, पर यदि हम आपको प्यार करते हैं, तो आपकी हिम्मत नहीं कि आप हमारे प्यार को काट सकें। और जिसके जीवन

में प्रीति की अभिव्यक्ति होती है, उसके जीवन में बुराई कभी रह नहीं सकती। बुराई हम उसके साथ करते हैं, जिसके साथ हमारा प्यार नहीं होता। आज तक अपने प्यारे के साथ क्या कोई बुराई कर पाया है? प्यार का रस इतना गहरा होता है कि बुराई करने की जरूरत नहीं होती।

इसलिये, भाई! विवेक-विरोधी सम्बन्ध, जो हमारे जीवन में ओतप्रोत हो गया है उसको तोड़ना है। उसका तोड़ना वर्तमान की वस्तु है और प्रत्येक व्यक्ति उसको तोड़ने में समर्थ और स्वाधीन है। यदि हम यह स्वीकार करलें कि जिस वाणी से हम बोलते हैं, वह हमारी नहीं है; जिस कान से हम सुनते हैं, वह हमारा नहीं है; तो बोलना श्रोता के अधिकार की रक्षा के लिये हो जायगा। उससे श्रोता की पूजा होने लगेगी और सुनना वक्ता के अधिकार की रक्षा, उसकी पूजा के लिए होगा। तब न बोले हुए का अभिमान होगा, न सुने हुए का। यदि दो सहोदर बन्धुओं के बीच का सम्बन्ध, पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध, पड़ोसियों के बीच का, वर्गों के बीच का, देशों के बीच का सम्बन्ध इसी भावना से प्रेरित हो, तो कितना आनन्द हो! यदि हम सबेरे से शाम तक, जागृति से लेकर सुषुप्ति तक, जन्म से मृत्यु तक इस भावना को जीवित रक्खें, तो जीवन कितना सुखमय हो जाय, कितना रसमय हो जाय!!

इसलिए विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग ही साधन है। वह त्याग वर्तमान की वस्तु है। उससे प्राप्त वस्तु का दुरुपयोग न होकर सदुपयोग होने लगता है और अप्राप्त की कामना नहीं रहती। कामना न रहने से प्रवृत्ति के अन्त में नित्ययोग की प्राप्ति होती है और प्राप्त का सदुपयोग होने से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। यही जीवन का उद्देश्य है।

२५

आस्थावान साधक ऐसा मानते हैं कि मानव का कोई आश्रय तथा प्रकाशक है और यही सनातन सत्य है और सब प्रकार से पूर्ण है। पूर्ण से निर्मित मानव प्राप्त विवेक, आस्था और बल के द्वारा शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का जन्मजात् अधिकारी है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति जिसे चाहिये उसे अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिये। मनुष्य प्राप्त सामर्थ्य को जगत् एवं जगत्पति के संकल्प पूरे करने में लगा सकता है। जगत्पति के नाते किया गया कर्म भक्ति प्रदान करता है। और जगत् के नाते किये हुए कर्म से शान्ति मिलती है। अपना संकल्प ही अपने को भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। अपना संकल्प न रहना साधन है। जगत् के संकल्पों को पूरा करना कर्तव्य और सेवा है और प्रभु के संकल्पों को पूरा करना पूजा है।

●

प्रकृति के परे के विधान से यह स्पष्ट सिद्ध है कि मानव का निर्माण मानव के अपने प्रयास का फल नहीं है; क्योंकि प्रयास का दायित्व मानव होने के पश्चात् ही आता है। मानव का निर्माण उसी ने किया है जिसने सृष्टि रची है। यदि कोई यह

कहे कि सृष्टि का निर्माता नहीं है, वह तो स्वतः सिद्ध है, तो मानना होगा कि सृष्टि का ज्ञाता होने के कारण मानव का अस्तित्व सृष्टि से पूर्व है। इस दृष्टि से मानव को निर्मित न मान-कर सनातन और अविनाशी मानना होगा, परन्तु यह सभी विचारकों का मत नहीं है। सृष्टि के ज्ञाता का अस्तित्व सृष्टि की अपेक्षा अधिक सनातन और अविनाशी है, परन्तु जो मानव को किसी की रचना मानते हैं, उन आस्थावान साधकों के जीवन में सृष्टि और मानव का कोई आश्रय तथा प्रकाशक है और वही सनातन सत्य एवं सब प्रकार से पूर्ण है। पूर्ण से निर्मित मानव प्राप्त विवेक, आस्था, और बल के द्वारा शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का जन्म-जात अधिकारी है।

जो मानव शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का अधिकारी हैं, उसको अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिए; क्योंकि शान्ति मुक्ति, भक्ति स्वतः सिद्ध तत्व हैं। उनकी उपलब्धि के लिए उनकी माँग ही अपेक्षित है। माँग की पूर्ति पराश्रय तथा परि-श्रम के द्वारा नहीं होती। पराश्रय एवं परिश्रम के द्वारा संकल्पों की पूर्ति होती है, किन्तु अन्त में संकल्प-अपूर्ति का अभाव ही शेष रहता है। इस दृष्टि से सजग मानव अपना कोई संकल्प नहीं रखते। उन्हें जो वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य प्राप्त है उसके द्वारा जगत् और जगत्पति के संकल्प पूरे किए जा सकते हैं। जगत्पति के नाते किया हुआ कर्तव्य-कर्म भक्ति प्रदान करता है और जगत् के नाते किए हुए कर्तव्य कर्म से मानव निःसंकल्प होने के कारण शान्ति और सेवा-भाव से की हुई प्रवृत्ति के द्वारा जगत् के राग से रहित होकर जगदातीत जीवन में प्रवेश पाता है। उसी कर्तव्य-कर्म को जब आस्थावान साधक प्रभु की पूजा

के भाव से करता है, तो वह प्रभु-प्रेम पाता है। इस दृष्टि से मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होकर शान्ति, मुक्ति और भक्ति देती है। निवृत्ति में भी एक अलौकिक शक्ति है, जिससे मानव जगत् के उद्‌गम को और अपने में अपने अवि-नाशी जीवन एवं जीवन-धन को पाकर कृत-कृत्य होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव का अपना कोई संकल्प नहीं रहता; केवल कर्तव्य-परायणता रह जाती है। कर्तव्यपरायणता से मानव सभी विकारों से रहित हो जाता है और निर्विकारता की भूमि में ही योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो शान्ति, मुक्ति, भक्ति में हेतु है। अपना संकल्प ही अपने को भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। इस वास्तविकता का यथेष्ट अनुभव होने पर मानव अपने सभी संकल्पों का त्याग कर निस्संकल्प हो जाता है, अर्थात् उसके सभी संकल्प जगत् और जगत्पति के संकल्प में विलीन हो जाते हैं।

अपना संकल्प न रहना साधन है। जगत् के संकल्पों को पूरा करना कर्तव्य अर्थात् सेवा है और प्रभु के संकल्पों को पूरा करना पूजा है। जब अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब किसी विकार की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् निर्विकारता की अभि-व्यक्ति होती है, जो वास्तव में साधन है। जगत् के संकल्पों की पूर्ति से जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग पूजा-भाव से करने पर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध सुदृढ़ तथा सजीव होता है, जिससे अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है और जीवन अनन्त रस से भरपूर हो जाता है। शान्ति से उदित सामर्थ्य तथा ज्ञान के प्रकाश एवं

प्रेम के रस से परिपूर्ण होना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन का निर्माण हुआ है। मानव की माँग सभी को है, क्योंकि उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं। इस दृष्टि से मानव सर्व-प्रिय है। मानव की जो अपनी माँग है, उसकी पूर्ति सत्संग से होती है, जो उसका स्वधर्म है। स्वधर्म का सम्पादन 'स्व' के द्वारा ही होता है। उसके लिए किसी पराश्रय तथा परिश्रम की अपेक्षा नहीं है। मानव-जीवन में जो पराश्रय और परिश्रम दिखाई देता है उसका उपयोग पर-सेवा ही में है। पर इस वास्तविकता का बोध तभी होता है, जब मानव इस तथ्य को अपना ले कि मेरा कोई संकल्प नहीं है। यह सर्वमान्य सत्य होगा कि मानव का अविभाज्य सम्बन्ध जगत् और उसके आश्रय तथा प्रकाशक से है। तदनुसार जगत् के प्रति उदारता और उसके प्रकाशक के प्रति अनन्त प्रेम होना ही चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब मानव निज-ज्ञान के प्रकाश में निर्मम, निष्काम एवं असंग होकर स्वाधीन हो जाय और कर्तव्य-बुद्धि से निस्संकल्प होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता रहे। परिस्थिति के सदुपयोग से ही सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय, और रसरूप जीवन से अभिन्नता होती है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। इस कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने में मानव स्वाधीन है, परन्तु प्रमाद-वश पराधीनता में आबद्ध होने के कारण मानव प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्त के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, जो अहितकर है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग करना अनिवार्य है, पर उसके लिए सजगतापूर्वक निस्संकल्प होकर कार्य करना

होगा। आवश्यक कार्य बिना किए करने के राग की निवृत्ति नहीं होती और अनावश्यक कार्यों का त्याग किए बिना आवश्यक कार्य की पूर्ति नहीं होती। अनावश्यक कार्य का त्याग तभी हो सकता है, जब मानव यह स्वीकार करे कि जो भी वर्तमान कार्य है, वह भौतिकवादी दृष्टिकोण से जगत् का और आस्तिकवादी दृष्टिकोण से जगदाधार का है। व्यक्तिगत कार्य कुछ नहीं है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। परन्तु असावधानी के कारण जब मानव कार्य के बदले में अपने लिये कुछ भी चाहता है, तब कर्तव्य-पालन में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं और फिर व्यक्तिगत जीवन में अशान्ति एवं सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जो किसी भी सजग मानव को अभीष्ट नहीं है। जिसका अपना कोई कार्य नहीं है, उसी के द्वारा जगत् एवं जगदाधार के कार्य सम्पन्न होते हैं। यह अनन्त का मङ्गलमय विधान है। अपना कोई कार्य नहीं है, इस वास्तविकता का अनुभव करने के लिए कार्य के आदि और अन्त में विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प नष्ट हो जायें और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे हो जायें। संकल्प-पूर्ति और संकल्प-निवृत्ति दोनों ही अवस्थाओं में निस्संकल्पता स्थायी होती है। किन्तु सजग मानव को निस्संकल्प स्थिति में भी रमण नहीं करना है, अर्थात् उससे भी असंग होना है। इसके होते ही मानव अपने में अपने अविनाशी जीवन तथा जीवन-धन को पाता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है। जीवन तथा जीवन-धन अपने में नहीं हैं, ऐसा मानने की भूल से ही मानव देहाभिमान तथा अनेक प्रकार की पराधीनता में आबद्ध हो जाता है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

जगत् तथा जगदाधार के कार्य को अपना मान लेना भारी भूल है। इस भूल से ही मानव कर्तव्य-पालन में असमर्थता का अनुभव करता है और क्षुब्ध तथा क्रोधित हो जाता है। यदि प्राकृतिक विधान के अनुसार कोई भी कार्य अपना होता, तो उसके द्वारा अभाव का अभाव हो जाता, जो मानव की वास्तविक माँग है। माँग की पूर्ति विश्राम में है। विश्राम के सम्पादन के लिए करने के राग की निवृत्ति अनिवार्य है। उस राग-निवृत्ति के लिए ही कर्तव्य-पालन का विधान है। करने के राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण कर्तव्यपरायणता से ही साध्य है। कर्तव्य-निष्ठ मानव का किसी पर कोई अधिकार नहीं है, अपितु उससे सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं। यह विशेषता मानव ही में है। जब मानव अपने जीवन के महत्त्व को भूलता है, तब अधिकार-लोलुपता में आबद्ध होकर कर्तव्य से विमुख हो जाता है। बाह्य परिस्थिति परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हो, किन्तु मानव-जीवन के महत्व की दृष्टि से सब मानव बराबर हैं। मानव-जीवन का यह गौरव सुरक्षित रखना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव अपने ही द्वारा अपने सत्य को अपनाए और भूल से उत्पन्न हुए असत् का त्यागकर सत्संगी हो जाय।

सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विचार तथा विश्वास से साध्य जीवन-तत्व है। सत्संग के बिना व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामूहिक समस्याओं का हल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। यदि यह कह दिया जाय कि सत्संग ही एक मात्र सफलता की कुञ्जी है, तो अत्युक्ति न होगी, अपितु यही वास्तविकता है। वास्तविकता को अपनाकर प्रत्येक मानव मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो सकता है।

२६

प्रत्येक संयोग संयोग-काल से ही वियोग में वदल रहा है। अत: संयोग का सुख समस्त दु:खों का मूल है। इस दार्शनिक सत्य को अपनाकर व्यक्ति संयोग की दासता एवं वियोग के भय से मुक्त हो जाता है।

जीवन-विज्ञान मनुष्य को उदार, क्षमाशील एवं सहिष्णु बनाता है। दर्शन से जो सिद्ध है उसमें सन्देह की गन्ध भी नहीं रहती और जीवन-विज्ञान से जो साध्य है वह सभी को अभीष्ट है। प्राकृतिक विधान के अनुसार बलपूर्वक दूसरों के प्रति जो कुछ किया जायेगा वही कालान्तर में अपने प्रति अवश्य होगा। इस विधान में आदर से व्यक्ति की देहातीत जीवन से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से जीवन-विज्ञान और दर्शन मानव को एक ही अविनाशी तत्व से अभिन्न करते हैं।

जीवन-विज्ञान से मानव बुराई-रहित हो जाता है और दर्शन से वह भलाई के अभिमान से मुक्त हो जाता है। निर-भिमानता से परिच्छिन्नता का अन्त होता है, जिससे साधक अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है। विज्ञान और दर्शन को अपनाकर मानव जगत् के काम भी

आता है और उससे असंग भी हो जाता है। फिर आस्था से साध्य आत्मीयता से उदित प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति से जीवन पूर्ण होता है।

•

दर्शन का अर्थ है मानव का अपना निज-ज्ञान। उसके प्रकाश में मानव को अपनी वर्तमान गति-विधि देखना है। ऐसा करने से प्रत्येक साधक को यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक संयोग संयोग-काल से ही वियोग में बदल रहा है। अतः संयोग का सुख समस्त दुःखों का मूल है। संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा जगदाधार के नाते विश्व-वाटिका की यथा-शक्ति सेवा करनी है। जगदाधार से अभिन्न होने के लिए निजज्ञान का आदर अनिवार्य है। उससे ही मानव निर्मम होकर निर्विकारता और असंग होकर स्वाधीनता एवं निष्काम होकर चिर-शान्ति पाता है। यह मानव के अपने दर्शन की देन है।

अब रही जीवन के विज्ञान की बात। जीवन-विज्ञान हमें उदार तथा क्षमाशील होने की एवं आई हुई प्रतिकूलता को सहर्ष सहन करने की प्रेरणा देता है। दर्शन और विज्ञान की वास्तविकता का कोई विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि इनके द्वारा जीवन-तत्त्व की वास्तविकता का अनुभव होता है, जो मानव-मात्र को अभीष्ट है। दर्शन से जो सिद्ध है, उसमें सन्देह की गंध भी नहीं रहती और जीवन-विज्ञान से जो साध्य है, वह सभी को अभीष्ट है।

निस्सन्देहता आ जाने पर निश्चिन्तता, निर्भयता स्वतः प्राप्त होती है और फिर साधक का सन्तुलन स्थिर रहता है,

जिससे कर्तव्य तथा निजस्वरूप की विस्मृति नहीं होती। जीवन-विज्ञान से यह सिद्ध है कि कर्तव्य की स्मृति में ही कर्तव्य-पालन की सामर्थ्य निहित है। कर्तव्यपरायणता आ जाने पर व्यक्ति और समाज में गहरी एकता हो जाती है, जो विकास की भूमि है। यह रहस्य जीवन-विज्ञान से ही स्पष्ट होता है।

अपनी सुरक्षा की मांग सभी में है। यह जानते हुए भी दूसरों के विनाश की सोचना क्या अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना नहीं है? इतना ही नहीं, प्राकृतिक विधान के अनुसार बल-पूर्वक दूसरों के प्रति जो कुछ किया जायगा, वही कालान्तर में अपने प्रति अवश्य होगा, यह वैज्ञानिक तथ्य है। यदि जीवन-विज्ञान का आदर किया जाय, तो मानव में अकर्तव्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी और मानव स्वतः कर्तव्यनिष्ठ हो जायगा। उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित होंगे और वह स्वयं अधिकार-लोलुपता से रहित हो जायगा; जिसके होते ही देहातीत जीवन से अभिन्नता होगी। इस दृष्टि से जीवन-विज्ञान और दर्शन मानव को एक ही अविनाशी तत्व से अभिन्न करते हैं। वास्तव में दर्शन और विज्ञान में एकता है, विरोध नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव निज-ज्ञान के प्रभाव को अपनाकर अर्थात् निज-ज्ञान के आदर से भूल-जनित दोषों से रहित हो जाय। निर्दोषता प्राकृतिक तत्व है और भूल-जनित दोषों की उत्पत्ति निज-ज्ञान के अनादर से होती है। अतएव ज्ञान और कर्म की एकता जीवन-विज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश से ही अज्ञान का अन्धकार नष्ट होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं यह दार्शनिक तथ्य है। ज्ञान-विरोधी कार्य न करना विज्ञान है। विज्ञान को अपनाये बिना जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता और ज्ञान के प्रकाश के बिना मानव भूल-रहित नहीं होता।

भूल-रहित हुए बिना निर्विकारिता, चिर-शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती और जीवन-विज्ञान को अपनाये विना उदारता समता, निर्विकारिता, निर्भयता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती। निर्विकारिता, चिरशान्ति एवं स्वाधीनता मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है, परन्तु मानव अपने ही प्रमाद से वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है; जिसके होते ही वह देहाभिमान में आबद्ध होकर पराधीन हो जाता है, किन्तु स्वाधीनता की मांग नष्ट नहीं होती। जो विकृति भूल से उत्पन्न होती है उसके द्वारा मानव की वास्तविक मांग नष्ट नहीं होती, शिथिल हो जाती है। मांग के शिथिल होने पर काम का जन्म होता है, जो समस्त कामनाओं की भूमि है। कामनाएँ अनेक और मांग एक है। मांग अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न करती है और कामनाएँ मानव को वस्तु व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता में आवद्ध करती हैं। इस प्रकार की दासता में आबद्ध व्यक्ति संतुलन खो बैठता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि कर्तव्य तथा निज-स्वरूप की विस्मृति हो जाती है, जो विनाश का मूल है। काम का नाश एकमात्र वास्तविक मांग के सबल होने से ही संभव है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। वास्तविक मांग की पूर्ति होती है, यह वैधानिक तथ्य है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों यह आस्था स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों मांग सबल होती जाती है। ज्यों-ज्यों मांग तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों काम नष्ट होता जाता है। सर्वांश में काम का नाश होते ही मांग स्वतः पूरी हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

जीवन-विज्ञान से मानव बुराई-रहित हो जाता है और दर्शन से वह भलाई के अभिमान से मुक्त हो जाता है। निरभि-

मानिता आते ही परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती और फिर अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन में मानव प्रवेश पाता है। बुराई और भलाई का द्वन्द्व ही मानव में परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। परिच्छिन्नता मानव को वास्तविकता से विमुख कर देती है। वास्तविकता से विमुख होते ही, जिससे अभिन्नता है उससे भिन्नता और जिससे भिन्नता है उससे एकता भासित होती है। इस कारण द्वन्द्व का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र बुराई-रहित होने से ही सम्भव है। बुराई का अन्त होते ही भलाई अपने आप होने लगती है। उसका अभिमान मानव को परिच्छिन्नता से रहित नहीं होने देता। परिच्छिन्नता से रहित हुए बिना मानव अपने में अपना जीवन नहीं पाता और न जीवन-धन के प्रेम से ही परिपूर्ण होता है। इतना ही नहीं, परिच्छिन्नता से ही पराधीनता पोषित होती हैं। पराधीन मानव न तो उदार ही हो पाता है और न प्रेमी। उदारता तथा प्रेम के बिना जीवन जगत् और जगदाधार के लिए उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र भलाई के फल तथा उसके अभिमान से रहित होने पर ही हो सकता है।

भूल-रहित होने पर बुराई का सर्वांश में नाश हो जाता है, क्योंकि उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। बुराई-रहित होने से भलाई अपने आप होती है। वह मानव की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है, जो सदैव तथा सर्वत्र है। उसी से मानव की एकता होती है। जो स्वतः सिद्ध है उसका अभिमान करना प्रमाद है। प्रमाद किसी-न-किसी अंश में बुराई को जीवित रखता है। उससे ही भलाई का अभिमान

उत्पन्न होता है। भलाई के अभिमान से ही उसके फल में आसक्ति होती है, जो मानव को स्वाधीन नहीं होने देती। स्वाधीन हुए बिना मानव सर्वांश में प्रमाद-रहित नहीं होता और उसके बिना वह बुराई-रहित भी नहीं होता। बुराई-रहित होने के लिए मानव का पराश्रय तथा, परिश्रम के द्वारा पर-सेवा करना अनिवार्य है, जो जीवन-विज्ञान है। अपने में अपना जीवन है, उसकी प्राप्ति के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। अपने में अपना जीवन है, यह आस्था मानव को पराश्रय एवं परिश्रम से रहित कर देती है, जिससे मानव को विश्राम तथा स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीन होते ही स्वतः उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती हैं, जिससे जीवन जगत् और जगदाधार के लिये उपयोगी होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मानव का निर्माण हुआ है। मानव-दर्शन और जीवन-विज्ञान को अपनाकर मानव जगत् से असंग भी होता है और उसके काम भी आता है। असंगता अपने लिये और उदारता जगत् के लिये है। इसी वास्तविकता को अपनाने के लिये परम उदार परम सुहृद प्रेमास्पद ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर अपने ही में से मानव का निर्माण किया है। अतः उन्हीं के नाते जीवन-विज्ञान के आधार पर बुराई-रहित होना अनिवार्य है और दर्शन के द्वारा भलाई से असंग होकर अपने में अविनाशी जीवन को पाकर सन्तुष्ट होना है। परन्तु यह जीवन की पूर्णता नहीं है। जिसने दर्शन और विज्ञान प्रदान किया उससे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है। अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण मानव-दर्शन तथा जीवन-विज्ञान को अपनाने से होता है। अनन्त ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश पाकर सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है, किन्तु

आत्मीयता से उदित पावन प्रेम की अभिव्यक्ति के बिना जीवन की पूर्णता नहीं होती।

मानव-दर्शन, जीवन-विज्ञान एवं आस्था को अपनाना ही सफलता की कुञ्जी है।
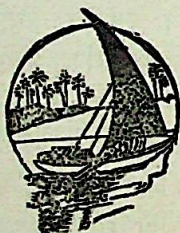
मानव सेवा सङ्घ के प्रकाशन

मार्च १९७९

	पृष्ठ संख्या	मूल्य
१. सन्त समागम भाग १ (छठा संस्करण)	२६०	२-००
२. सन्त समागम भाग २ (चतुर्थ संस्करण)	३४४	४-००
३. मानव की माँग (तृतीय संस्करण)	२२०	३-००
४. जीवन दर्शन (द्वितीय संस्करण)	३२६	२-५०
५. चित्त शुद्धि (तृतीय संस्करण)	४६०	५-००
६. साधन तत्त्व (द्वितीय संस्करण)	१०५	१-२५
७. सत्संग और साधन (द्वितीय संस्करण)	९९	१-००
८. जीवन पथ (द्वितीय संस्करण)	१३८	१-२५
९. मानवता के मूल सिद्धान्त (तृतीय संस्करण)	९६	१-००
१०. दर्शन और नीति (द्वितीय संस्करण)	१५०	२-००
११. दुःख का प्रभाव (तृतीय संस्करण)	११८	२-००
१२. मानव सेवा संघ परिचय (पंचमवार)	४८	०-३५
१३. मूक सत्सङ्ग और नित्ययोग (द्वितीय संस्करण)	२१८	२-७५
१४. मानव दर्शन (द्वितीय संस्करण)	१९३	१-७५
१५ मंगलमय विधान (द्वितीय संस्करण)	७०	१-२५
१६. संत-पत्रावली भाग १	१८०	२-५०
१७. हम और हमारा देश	१६४	१-२५
१८. A Saint's Call to Mankind (Second Impression)	174	3-50
१९. Sadhna—Spotlights by a Saint.	70	1-25
२०. साधन सूत्र (छोटा)	प्रति सैट	१-५०
२१. आचार-संहिता	६४	०-६०
२२. पाथेय	३५८	४-५०
२३. सफलता की कुञ्जी	१,६०	२-५०
२४. रजत जयंती स्मारिका (कमीशन न मिलेगा)	२८२	६-००
२५. सन्त स्मृति अङ्क (")	१२८	२-००

बिक्री के नियम

(नकद या वी० पी० से)

१. संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के पूरे सैट पर १२॥ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है।

२. १०) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर ५ प्रतिशत
५०) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २० प्रतिशत
१००) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २५ प्रतिशत
५००) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर ३० प्रतिशत
कमीशन दिया जाता है।

नोट :—(अ) १००) रु० तथा इससे अधिक मूल्य की पुस्तकों पर पैकिंग तथा रेल भाड़ा फ्री होगा।
(ब) डाक खर्च अलग लगेगा।

मिलने का पता—

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा)

जीवन-दर्शन

[संघ का मासिक मुख-पत्र]

मानव मात्र में निज-कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण की चेतना फूँकने वाला, संघ के स्वरूप तथा उसकी विचार धारा का प्रतीक, साधकों के लिये सही पथ-निर्देशक, सभी का सच्चा सखा, सर्वथा पठनीय।

वार्षिक शुल्क ६) मात्र।

मानव सेवा संघ

वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.

मूल्य :
दो रुपये पचास पैसे